मोहे बिसरत नाहिं



नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

मोहे बिसरत नाहिं

गोपाल दास



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
34, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

ISBN 81-214-0174-7

मूल्य : 34.00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित/
प्रथम संस्करण : 1987/कमल प्रिंटर्स, गांधीनगर में मुद्रित।
[72 1-12-1187/N]

MOHE BISRAT NAHIN by Gopal Das Rs. 34.00

अपनी बात

कुछ क्षण, कुछ प्रसंग
इतनी गहराई से
अन्तरमन को
अभिभूत कर जाते हैं, झिंझोड़ जाते हैं
कि उनकी याद, उनकी टीस
जीवन भर
मन के भीतर बनी रहती है।
इस पुस्तक के द्वारा
कुछ ऐसे ही क्षणों, प्रसंगों को
फिर से जीने का
प्रयास किया है।

जिसने पचास वसन्त साथ भोगे
और उतने ही पतझड़ भगते
सुख दुख की
दिवा निशा की
संगी साथिन
प्रिये रानी को

क्रम

दो दुनिया

एक संवाद :

'क्यों, हममें और धनिकों मे क्या अंतर है ?'

'उनके पास पैसा है।'

एक और संवाद :

'दुनिया मे पैसा ही सब कुछ नही है। और भी चीजें हैं।'

'जैसे ?'

उस जुलाहे ने सही कहा था :

'निरधन सरधन दोनों भाई।'

अबदुर्रहीम खानखाना के द्वार पर आकर एक याचक ब्राह्मण ने आग्रह किया कि वह उनसे बिना मिले नही जायेगा। उसे दान-दक्षिणा नही चाहिए।

द्वारपाल ने पूछा, 'उनसे क्यों मिलना चाहते हो ?'

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, 'क्योंकि वह मेरे साढ़ू हैं।'

'तुम्हारे ?'

'हां।'

द्वारपाल हंसा। हंसी में उपेक्षा थी। ब्राह्मण पागल है। कहां यह दीन-हीन भिखारी, कहां मुग़लिया साम्राज्य के स्तंभ, अबदुर्रहीम खानखाना ! किंतु ब्राह्मण टला नही। धरना देकर बैठ गया। बात भीतर खानखाना तक पहुंची। उन्होंने द्वारपाल को बुलाकर आदेश दिया कि ब्राह्मण को सादर लिवा लाये।

वह बोले :

'ब्राह्मण ठीक कहता है। मैं वास्तव में उसका साढ़ू हूं। अमीरी-ग़रीबी दो

बहनें हैं। एक मैंने ब्याही है, एक उसने।'

शायद जुलाहा और ख़ानख़ाना अपनी जगह दोनों सही थे।

किंतु आज का कवि कहता है :

'इस दुनिया मे दो दुनिया हैं,
उनके नाम ग़रीब-अमीर।'

और यह आज का सत्य है।

एक तथ्य :

'देश के अधिकांश साधनों का उपयोग उसकी आबादी का मात्र एक प्रतिशत वर्ग करता है, वह जो अमीर है।'

राजघाट के पास एक बड़ा खेल का मैदान है। दिल्ली दरवाज़े के सामने। वहां बस रुकी। एक बारह-तेरह साल का लड़का पेट पीटकर तबला बजाने लगा। उसकी फटी हुई नेकर से, आगे-पीछे, उसका नंगापन झांक रहा था। ऊपर का शरीर अनढका था। आंखो मे गीद थी, बाल रूखे और उलझे हुए, पेट अतड़ियो तक धसा हुआ। वह पेट पर ठेका दे रहा था और गा रहा था :

'झूठ बोले कौआ काटे,
काले कौए से डरियो।'

वह क्यो काले कौए से डरता ? वह तो झूठ नही बोल रहा था। वह तो अपनी ग़रीबी को सगीत में भरकर, बस के यात्रियों का मनोरंजन कर रहा था। हां, वह राजघाट के उस समाधिवाले संत को अवश्य झुठला रहा था जिसने कल्पना की थी कि स्वतंत्र भारत में किसी आंख मे आंसू नही रहेगा।

वह पेट पीटता रहा। बिरले ही किसी ने उसे पैसा फेंका। कम-से-कम मैंने नहीं। बस आगे बढ़ गयी।

उस रात मैंने टेलीविज़न पर देखा :

नसली कुत्तों की प्रतियोगिता मे एक तिब्बती झबरा पहला आया है। मालकिन उसे गोदी में लिये प्यार से दुलरा रही हैं। एक वर्दीधारी सेवक प्लेट मे कैंची, कंघा और डिटोल की बोतल लिये खड़ा है। मालकिन कैंची उठाती हैं, डिटोल में डुबाती हैं और कुत्ते के बाल काटती हैं, संवारती हैं। उनकी बाछें खिल रही हैं। कुत्ता मगन है। पूर्वजन्म के पुण्य का सुख लूट रहा है।

'साबार ऊपरे मानुष सत्य,
ताहार ऊपरे नाईं।'

सत्त वचन है चंडीदासजी महाराज, सत्त वचन !

एक ऊंची दुकान, जिसका पकवान फीका नहीं, पाकेटमार अवश्य है। दरवाज़े में घुसते ही बीयर की एक आदमक़द बोतल रखी है। उसे सजाया जा रहा है, विज्ञापन के लिए। उसके आसपास मंडरा रही है चटख रंग के कपड़ों में आवेष्टित—कितनी आवेष्टित !—एक शोख आधुनिका। वह इतराती, इठलाती कभी बाहर आती है, कभी अंदर जाकर बोतल की सजावट बदलती है। वहां हल्की-सी भीड़ जमा हो जाती है।

दुकान के बाहर एक फ़ाउंटेनपेनवाला बैठता है। बरसों से मैं उसे वहां देखता आया हूं।

भीड़ से निकलकर एक आदमी फ़ाउंटेनपेनवाले के पास आता है। ग़रीबी उसके हाल से पुकार रही है। चेहरे पर वहशत है। शायद कुछ पिये हो। वह कहता है :

'मुझे फ़ाउंटेनपेन दिखाओ।'

दुकानदार सस्ते फ़ाउंटेनपेनों का एक डिब्बा उसके सामने कर देता है।

'ये नहीं।'

'तो ?'

'मुझे चार से चार सौ रुपये तक के फ़ाउंटेनपेन दिखाओ।'

दुकानदार उसे अचरज से देखता है। वह तमक जाता है।

'मुझे ऐसे क्या देख रहे हो ? आदमी हूं, जीता-जागता। दो हाथ हैं, दो पैर हैं। मुंह है, आंख-नाक-कान हैं, ज़बान है, बोल रहा हूं। सोचते होगे यह फटीचर आदमी चार सौ रुपये का पेन क्या खाकर लेगा ! मैं कहता हूं, दिखाओ।'

उसकी आवाज़ में कुछ कर गुज़रने की धमकी है। दुकानदार सहम जाता है। वह बढ़िया पेन निकालने को झुकता है।

वह आदमी कहे जा रहा है :

'चार सौ का फ़ाउंटेनपेन मिलता है, आदमी उससे सस्ता, औरत उससे भी सस्ती।'

बड़ी दुकान का एक कर्मचारी आता है। आधुनिका से कहता है :

'साहब याद कर रहे हैं।'

वह भीतर चली जाती है।

आदमी की आवाज़ बुलंद होती है। उसमें अंगारे झड़ रहे हैं।

'यारो, मैं कहता न था, आदमी सस्ता है, औरत उससे भी सस्ती, कहीं सस्ती।'

दुकानदार बढ़िया पेन बढ़ाता है। वह आदमी नौ-दो ग्यारह हो गया है। भीड़ में खो गया है।

एक कई मंजिला इमारत बन रही है। तहखाने का फ़र्श पड़ चुका है। शेष लोहे का सलाखों का जंगल लगता है। जेठ की दुपहरी है। पास की इमारत की साया में मजदूर सुस्ता रहे हैं, बीड़ी पी रहे हैं, बतिया रहे हैं। उनके बच्चे कीचड़ और मलबे मे ढूढ रहे हैं—क्या ? छायावाद के रूमानी कवि ने जो 'गदबदे, सांवले, सहज छबीले' लड़के देखे थे :

'वे चुन ले जाते कूड़े से निधियां सुन्दर,
सिगरेट के ख़ाली डिब्बे, पन्नी चमकी की,
फ़ीतो के टुकड़े, तसवीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की।'

ये आंखें धसे, पेट फूले, मरियल बच्चे ढूढ़ रहे ये चिथड़े, अधजले कोयलों के टुकड़े, लकड़ी की छोटी-मोटी छिपटियां और, भाग्य से कही मिल जाये तो, पैसा !

इतने में एक बड़ी अमरीकी कार आकर रुकती है। उसमें से उतरते हैं बन रही इमारत के मालिक और दो मुसाहिब। मजदूर हाथ बाधकर खड़े होते हैं। बच्चे उनसे बेखबर, अपने काम मे व्यस्त रहते हैं। मालिक निरीक्षण के लिए आगे बढ़ते हैं। रास्ते में एक बच्चा आ जाता है। वह उसे पैर से एक ओर धकेल देते हैं, जैसे गारे का ढेर हो। बच्चा गिर जाता है, सिसकने लगता है।

'ये कीड़े सब जगह कुलबुलाते पहुंच जाते हैं। कही छुटकारा नही है इनसे।'

'राकुड़या परे हट जा, साब का रास्ता सू।'

बाप के हाथ अब भी बंधे हैं लेकिन उसकी आवाज मे ऐसी चिनगारी है कि मालिक उसे घूरकर देखता है। मजदूर आंखे नीची नहीं करता है।

कभी एक रूसी कविता पढ़ी थी, 'संगतराश'। उसका स्मरण हो आता है। संगतराश कहता है, ये जो बड़े पत्थर काटकर हम तैयार कर रहे हैं, उनसे हम एक जेल बनायेंगे जिसमें, अपने अधिकार मांगने पर, हमे ही बंदी बनाया जायेगा। अमीरी जिनके दम पर पलती है, पनपती है, उनकी संतान 'कीड़ा' होती है। ग़रीबी और सम्मान कदाचित् परस्पर विरोधी शब्द हैं। शेख़ सादी मूर्ख था जिसने कहा था, अमीरी दौलत की नही, दिल की होती है। हमने दिल के धनी, बहुतेरे भिख-मंगे, सड़कें नापते देखे हैं। सादी से कही बुद्धिमान था राजस्थान का वह अज्ञात कवि जिसने उस वर्ग के लिए, जिसका प्रतीक था वह अमरीकी कार का मालिक, अपने भावों को कैसी मार्मिक अभिव्यक्ति दी थी :

'पाणी पीवै छाण,
लोहू अणछाणो पिवै।'

आज के भारतीय संदर्भ मे कोई ऐसी जगह भी हो सकती है कि जहां अभाव और महगाई अजनबी शब्द लगें, इसका विश्वास मुझे न होता यदि मैंने स्वयं देखा-जाना

न होता। किंतु जो अनुभूति हुई, वह सुखद नही थी।

दिल्ली की संकानगरी मे तो सभी बावन गज के होते हैं, लेकिन देहात के छोटे कस्बे मे, सही कुर्सी सभाले, बित्ते भर का अधिकारी भी, बावन गज क्या, उससे कही ऊंचा होता है।

उत्तर प्रदेश के पछांह का एक ऐसा ही कस्बा।

'साहब' के घर शादी है। अपनी बेटी की नही, भाई की बेटी की। उदारमना *साहब ने स्वय दायित्व लिया है। शामियाने, कनातें तनी हैं। बिजली के लट्टुओं* ने जनवासे में रात को दिन कर दिया है। मेहतर, भिश्ती, नाऊ, चाकर सबके ठट्ठ हैं। यही तसवीर घरातियो के बासे की है। जीपें दौड़ रही हैं। चाटुकार कहते हैं :

'हां, सुना है, अरबों और इजराइलियों की लड़ाई के बाद पेट्रोल की कीमत कुछ बढ़ गयी है, लेकिन साहब के घर बारात आयी है, साहब सरकार हैं, साहब की नाक की बात है।'

भारत मे विशुद्ध दूध और घी की नदियां बहने के दिन लौट आये हैं। रात के भोजन पर छः मिठाई हैं—मेवे, फल, नमकीन, पूड़ी, कचौड़ी और न जाने क्या-क्या!

'अरे मेहरबान, और लीजिए, आपने खाया ही क्या है! यह इतना बचाकर क्या होगा? मैं कहता हू, लोगों के पेट को न जाने क्या हो गया है! खाना नही खाते, दाना चुगते हैं।'

वह बित्ते भर का अधिकारी ऐसे इतरा रहा है, जैसे :

'प्यादे से फ़रजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाये।'

कैसा करिश्मा है!

मुझे तो प्रसन्न क्या, गद्गद होना चाहिए, मैं बाराती जो हूं। शानदार सत्कार हो रहा है। और क्या चाहिए? लेकिन कुछ लोग होते हैं जो अपनी आत्मा से त्रस्त होते हैं।

'यह सब कहां से आया?'

इसका पैसा कौन भरेगा?

यह सब कैसे होता है?

प्रश्न-ही-प्रश्न हैं, उत्तर नही। वैसे, उत्तर क्या दूर या जटिल हैं? उस भीड़, उस शोर के ऊपर, एक और आवाज मेरे कानो मे गूजती है : 'एक बार यह सब फुंक जाये तो अच्छा हो। हमारा क्या बिगड़ेगा?'

मेरे घर के पास झुग्गी-झोपड़ियों का फल-सब्जी का एक छोटा-सा बाजार है। मैं प्राय. उस बूढ़े कुंजड़े से ही फल लेता हूं। उस दिन अपनी फूस की मढ़ैया मे वह

अकेला, उदास बैठा था। कोई और गाहक नहीं था।

मैंने पूछा, 'चीकू कैसे दिये ?'

'पांच रुपया किलो।'

'पांच रुपया !'

'हां साहब।'

'सच ?'

'क्या पट्टा लिखाग्रोगे साहब ? कितनी बार कहें ?'

'इस कीमत पर कौन ख़रीदेगा ?'

'जिसे खरीदना होगा।'

'इतना महगा क्यो ले आये ?'

'अपने आग लगाने को।' न जाने वह कब से भरा बैठा था। फूट पड़ता है। 'साहब, इतनी महंगाई है, फिर भी आग नही लगती। कैसा मुर्दा मुल्क है ? हम तो चाहते हैं, एक बार ऐसी आग लगे कि सब फुंक जाये, राख हो जाये। हमारा क्या बिगड़ेगा ? कुछ हो तो बिगड़े। लेकिन और तो जलेंगे, जिनके पास है, जो यह सब करा रहे है। वे भी एक बार आग की लपट झेलें तो। उन्हें क्या मालूम कि गरीबी की आग क्या होती है ?'

मिठाई मेरे गले में अटक जाती है। मैं एक और उठा रहा था। मेरा हाथ जम जाता है।

पहला संवाद फिर, और पूरा :

'क्यों, हममे और धनिको मे क्या अंतर होता है ?'

'पैसे का।'

'पैसे के साथ सुख भी होगा ?'

'हो सकता है।'

'हो सकता है या होता है ?'

'जैसा मान लो।'

'एक बात कहो।'

'अच्छा, होता है।'

'और आत्मा ?'

'आत्मा क्या होती है ? क्या वह कुछ होती है ?'

'पहले जानता था, अब नही।'

'जो अब जानते हो, वही ठीक है। वह आज का सत्य है। जो कल का सत्य था, वह बीत गया।'

औरों के आइने में

दार्शनिक कहता है :

अपने को जानो।
हम क्या हैं ?
क्या वह, जो हम अपने बारे में सोचते हैं, या—
वह, जो और हमारे बारे में सोचते हैं ?
प्रायः जो हम सोचते हैं,
वह, वह नहीं होता है जो और सोचते हैं,
और दोनों में—
'दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।'
इसी के कुछ तीखे अनुभव हैं।

जो कुछ घटा :

और कुछ ही क्षणों में—
वह इतना अप्रत्याशित था
कि मैं आज तक समझ नहीं पाया हूं कि क्या, और कैसे, वह सब हो गया।
हां, इतना जानता हूं,
वह बड़ा मनहूस दिन था।
अगर मुझे अपने बारे में कोई गुमान था तो वह, भरे बाजार, दूर हो गया था।
दूर क्या हो गया था, उघाड़ दिया गया था।
उसके स्मरण भर से मैं सिहरा जाता हूं। सारी भीतरी ठसक ढहने लगती है।

बात दिल्ली की है। मैं गोल मार्केट के पास रहता था। सबेरे सौदा लेने बाजार गया था।

एक ठेलेवाले से पूछा, 'सेब कैसे दिये ?'

'चार रुपये किलो।'

'इनके चार रुपये कौन देगा ? कुछ कम करो।'

बस, यही शुरुआत थी।

जैसे ठेलेवाले की दुखती रग दब गयी हो, वह बिलट पड़ा :

'हराम के रुपये का माल नही लाते हैं साहब। गाढ़े पसीने की कमाई है, समझे ? हराम का रुपया आप जैसों के पास होता है। बड़े आये !'

मैं चकित था, क्या हो गया ? मैंने कहा :

'भाई, सौदे मे मोल-भाव तो होता ही है, इसमे बिगड़ना कैसा ?'

उसका स्वर और ऊंचा हो गया :

'मोल-भाव होता है बात का, आबरू का—और, वह भी हमारी। और करते हैं आप जैसे सफेदपोश, हराम की तिजोरियोंवाले।'

मेरे पास तिजोरियां, और वह भी हराम की ?

वह बके जा रहा था :

'मैं आपको बुलाने नही गया था। सौदा लेने आप चलकर आये थे।'

ठेलेवाला जता रहा था कि उसे मर्मांतक चोट लगी थी, पर उसके चेहरे पर कोई आवेश, आक्रोश नही था। वहां एक कुटिल मुस्कान थी। ऐसा भी आभास हुआ कि मुझे आंख बचाकर, उसने पड़ोसी ठेलेवाले से आंख मारी थी।

प्रश्न कौंधा : तो क्या यह सब एक भले आदमी की टोपी उछालने का भौंडा प्रदर्शन था ?

इसका उत्तर खोजने का वहां अवसर था, न स्थान।

चारों ओर से निगाहें मुझे बेध रही थीं। मेरे पोर-पोर में चुनचुनाहट हो रही थी।

मैं आगे बढ़ गया।

कुछ ठेलेवाले छोड़कर मैंने एक और से दाम पूछे। पहले जैसे सेब थे, शायद कुछ अच्छे ही।

वह बोला, 'तीन रुपया।'

मैंने एक किलो तौलने को कहा।

उसने तराजू उठाया, एक पलड़े मे सेब भरे, दूसरे में बाट डाला और डंडी चढ़ाकर तौलने लगा।

मैंने आपत्ति की। 'यह क्या, डंडी मार रहे हो ?'

'क्यों, आपको क्या दिख रहा है ?'

'वही जो मैं कह रहा हूं।'

'साहब, हम और आप एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।'

'क्या मतलब ?'

'आप लोग कमरे मे बैठकर, अपने काम में, चोरी-छिपे, डंडी मारते हैं, हम खुले दहाड़े मारते हैं। है न हमारे जीवट की बात ?'

मेरा मुंह तमतमा रहा था, शरीर कांप रहा था। किंतु क्या मैं उस निर्लज्ज, ढीठ व्यक्ति से उलझ सकता था ? वैसे ही वहां भीड़ जमा होने लगी थी और मैं अपने को नंगा अनुभव कर रहा था।

मैं भीगी बिल्ली बना वहां से चल दिया। मैंने कोई सौदा नही लिया। लगता था, हर ठेले पर, हर दुकान पर रखी हर वस्तु पर, सुई के कांटे उग आये थे।

मैं गाड़ी में बैठा और घर के लिए रवाना हो गया।

लेकिन घड़ा अभी पूरा नही भरा था।

चौराहे पर लाल बत्ती थी। गाड़ी रोकी। बत्ती बदली। मैंने गाड़ी बढ़ायी। मुड़ने को हाथ दिया। एक साइकिल पर सवार तीन लड़के, बत्ती की उपेक्षा करके, गाड़ी के सामने आ गये। संतुलन खोया और गिर पड़े।

मैंने डांटा, 'क्या करते हो ? बत्ती नही देखते ?'

'बड़े आये साले बत्तीवाले !' एक ने गोली दागी।

दूसरे ने एक और दनदना दी, 'मोटर मे बैठ गये हैं तो समझते हैं, सड़क मोल ले ली है। बत्ती हमारे लिए नही है।'

मैं कुछ कहूं, करूं, उसके पहले वे रफूचक्कर हो गये थे।

घर पहुंचकर मैंने अपने को आइने मे देखा। कही मेरे सिर पर सींग तो नही उग आया था,

कि जो देखता था, वह बिदक उठता था !

बुद्धं शरणं

मैं थका-मांदा सोफे पर बैठा था।

शाम घिर आयी थी। बत्तिया जल चुकी थी।

दिन मे कुछ ऐसा घट गया था कि मन मे गहरी वितृष्णा थी।

सत्य बोलो, प्रिय बोलो, इस नीति-वचन का तीसरा चरण मेरे संस्कार में नही है। मैं नही जानता, सस्कार बदले जा सकते हैं या नही, लेकिन बुड्ढे तोते में कुरान पढने की कोई लालसा नही है।

'सतन-को-कहा-सीकरी-सों-कामवाले' कुंभनदास की यह पंक्ति मेरे मन मे उमड़ रही थी :

'जिनके मुख देखे घिन उपजत
तिनको करिबे परी सलाम।'

सामने की दीवार पर एक तेज हरकत हुई। किताबों की ताक पर गांधार शैली मे बोधिसत्व की आवक्ष मूर्ति रखी थी। सौम्य मुद्रा, जिससे करुणा फट रही थी। एक छिपकली दौड़ती हुई आयी थी और मूर्ति से कुछ दूर ठिठक गयी थी। मूर्ति के पास, दीवार पर एक पतगा बैठा था। छिपकली की निगाह ने उसे बांध लिया था। वह बिलकुल अचल और अचेष्ट था। और फिर :

'जनु धायऊ काला,'

और पतंगा छिपकली के जबड़े मे था।

बोधिसत्व की आकृति से करुणा फूट रही थी :

'शांति और जनहित की भावना
प्राणि-मात्र मे सर्वत्र व्याप्त हो।
सब जीव,
छोटे-बड़े,

शक्त-अशक्त,
दृश्य-अदृश्य
शांति से प्रेरित हों,
आवेश या घृणा से
कोई किसी का अहित करे
न उसकी कामना।'

मैं दीवार देखे जा रहा था।

एक ओर पतंगा उड़ता हुआ आया और दीवार पर बैठ गया। छिपकली ने एकदम पैंतरा बदला और उसके सामने ऐसे हो गयी कि झपटी, अब झपटी। उसकी आंखें पतंगे पर गड़ी थीं। पतंगा, पहले पतंगे की तरह, भयमारा वहां जम गया था।

इतने में छिपकली बोली, वह नहीं, दूसरी। मैंने देखा, ऊपरी दीवार से नीचे की ओर एक भारी-भरकम, पली हुई छिपकली, मगरमच्छ की चाल, पंजे भरती हुई चली आ रही थी। मैं सिहरा गया, लगा कोई लिजलिजी चीज, जिसके पैरों में कीलें जड़ी हों, मेरे शरीर पर चल रही है।

पहली छिपकली ने गरदन मोड़कर दूसरी की ओर देखा। दोनों की निगाहें गुंथ गयीं, जैसे एक-दूसरे को तौल रही हों। कुछ क्षण ऐसे ही बीत गये। फिर, पहली छिपकली ने इधर-उधर झांका और मुंह में, पतंगा नहीं, एक अदृश्य तिनका दबाये, मैदान छोड़ दिया। वह धीरे-धीरे बोधिसत्व की मूर्ति के पीछे ओझल हो गयी।

छिपकली के दृष्टि-पाश से मुक्त हुआ पतंगा उड़कर मूर्ति पर आ बैठा।

विजयी मगरमच्छ अपने ठीये को लौट गया।

बोधिसत्व की मूर्ति से करुणा फूटनी ही थी, फूटे जा रही थी।

आस्था के सांचे सूरमा

मैं नास्तिक नहीं हूं, अभी तक—

लेकिन जब कभी, किसी मंदिर या तीर्थ जाता हूं—और ऐसा कभी-कभार ही होता है—तो जो भी आस्था है, वह डगमगाने लगती है, वहां जो होता है उसे देख, भुगतकर।

यह संजोग है या विधि का विधान—जो भी हो, बड़ा सुखद है—कि तभी ऐसा कुछ होता है जो इस डगमगाती आस्था मे पिलाई का काम करता है और वह स्थिर हो जाती है, बनी रहती है।

यदि कबीर ने कहा है कि जो पोथी पढ़ता है वह पंडित नहीं होता, तो शरत ने कहा है कि जो मंदिर मे देव-प्रतिमा के जितना निकट बैठता है, वह भगवान से उतना ही दूर होता है।

आस्था के सांचे सूरमा कोई और ही होते हैं।

मेरी हाल की केदारनाथ-बद्रीनाथ की यात्रा से यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी है।

केदारनाथ का मंदिर।

गर्भगृह में प्रवेश के लिए धकापेल मची हुई है। पुण्य लूटने वालों की कब, कहां कमी रही है? पंक्ति मे खड़े रहना निरर्थक लग रहा है। कोई इधर से, कोई उधर से भीतर पहुंच रहा है। भगवान तक पहुंचने का एक ही मार्ग तो नहीं है।

अपनी बारी आती है। एक शिला-सी है। उसके चारों ओर कटघरा है। भेंट देता हूं। टीका लगवाता हूं। परिक्रमा आरंभ करता हूं।

वहां की स्थिति है :

'पैंड पैंड बटमार।'

'यह देखो, यहां भेंट चढ़ाओ।'
'और यहां भी।'
'और यहां भी, चढ़ाओ, चढ़ाओ।'

वाणी में अनुरोध, आग्रह नहीं है। अधिकार, दंभ है।
स्वर में धमकी की ध्वनि गूंजती है।
न चढ़ाओ तो प्रताड़ित हो—
दृष्टि से, भाव से, शब्द से।
भगवान के पंडे हैं, क्या नहीं कर सकते?
स्वर्ग का द्वार रोककर खड़े हो जायेंगे।
जैसे वहां, उनके अपने लिए, जगह सुरक्षित है!

मन वितृष्णा से भर जाता है। घुटन होने लगती है। मैं बाहर निकल आता हूं।
फिर से सहज अनुभव करता हूं।

हम केदारनाथ से आ रहे हैं।

गरुडचट्टी के पास एक औरत रोकती है। भारत के देहात की नारी की सजीव प्रतिमूर्ति है। गाढ़े की मटमैली धोती में लिपटी, कृशकाय। बिवाई फटे नंगे पैर। पथरीला मार्ग है। चलने में कष्ट हो रहा है। वह पूछती है:

'बाबू, गौरीकुंड कितनी दूर है?'

'दो कोस।'

मेरे साथ छोटी बेटी राज है। हम आगे बढ़ जाते हैं। चाय की दुकान पर रुकते हैं। बीस-पच्चीस मिनट में ताजा होकर फिर रास्ता पकड़ते हैं। देखते हैं, वही औरत आगे चली जा रही है। किसी तरह अपने को घसीट रही है। उसके पास से निकलते हैं तो वह फिर टोकती है:

'बाबू, गौरीकुंड अब कितनी दूर है?'

'दो किलोमीटर।'

'दो किलोमीटर? वह कितना हुआ?'

'एक कोस से कुछ कम।'

'अभी भी एक कोस है?'

'हां, करीब।'

'अच्छा!'

'क्यों?'

'क्यो क्या बाबू, यह रास्ता घटता ही नहीं, बढ़ता जाता है।'

'थक गयी ?'

'बिलकुल।'

'जब सामर्थ्य नहीं थी तो केदारनाथ क्यों आयी थी ?'

उसे जैसे बिजली छू गयी। उसमें चमत्कारी परिवर्तन हुआ।

'क्या कहते हो बाबू ? भगवान के दर्शन के लिए सामर्थ्य की कमी ? ना, ना, ना। घट में प्राण रहते तो ऐसा हो नहीं सकता। वह तो मैंने ऐसे ही पूछ लिया था।'

बद्रीनाथ के प्रांगण में एक देवी का मंदिर है।

रानी ने भेंट चढ़ाकर सुहाग बिंदी लगवायी। प्रसाद के लिए हाथ फैलाया। एक चिकने-चुपड़े, सजे-बने पुजारी ने दूर ही से तुलसी-दल रानी की ओर फेंक दिये। कुछ हाथ में गिरे, कुछ धरती पर। रानी ने बीन लिये, माथे लगाये।

ऐसों के लिए ही तो कबीर ने कहा है :

'कहा भयो रचि स्वांग बनायो।'

तुलसी-दल हाथ में देते तो नारी का स्पर्श हो जाता। राम-राम ! पुजारी जी निर्मल, अकलुष बने रहे, जैसे मां पेट से जन्मे थे, लेकिन—

मां भी तो नारी ही रही होगी !

किसने कहा है, जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं ? होगा वह किसी और देश और काल का, और कहा होगा किसी और समाज के लिए।

मेरी दृष्टि एक प्रौढ़ा पहाड़िन पर पड़ी। वह प्रवेश-द्वार की सीढ़ियों पर मत्था टेक रही थी। जैसे ही उठी, हाथ का अंगूठा छिगुनी उंगली की पोर पर रखा और चल पड़ी मंदिर की परिक्रमा के लिए

परिक्रमा समाप्त हुई। फिर सीढ़ी पर मत्था टेका, अंगूठा उंगली के अगले पोर पर रखा और फिर परिक्रमा।

परिक्रमा चलती रही, अंगूठा उंगलियों के पोरों पर एक-एक करके बढ़ता रहा, मैं देखता रहा।

उंगली के पोर माला के मनके थे। वह मन के मनके फेर रही थी।

हर परिक्रमा के साथ उसका चेहरा और उद्दीप्त होता जाता था।

मुझे लगा, वह, नखशिख, एक अनोखी आभा से मंडित हो गयी थी।

बद्रीनाथ—एक और घटना :

हमने मोटे गरम लबादे पहन रखे थे। बर्फ के घोड़े पर सवार हवा ने शरीर

में हड़कंप मचा रखी थी। चाय की तलब थी। उसे पूरा करने बाजार की ओर जा रहे थे।

सामने से पकी हुई आयु का एक तमिल ब्राह्मण आ रहा था। उसके साथ दो-एक महिलाएं थीं। उसके तन पर मात्र एक लुंगी थी, वह भी उटंगी की हुई। उसके पैर नंगे थे। माथे, छाती और भुजाओं पर वैष्णवी चंदन-लेप था।

मैंने अपने साथी से कहा, 'यह बुड्ढा इस सरदी में मरने आया है।'

उसने सुन लिया। हाथ के इशारे से मुझे रोका। कुछ पास आया। बोला :

'मिस्टर, सरदी उन्हें लगती है जिनके पास कपड़े बहुत होते हैं। यहां, भगवान के दरबार में कैसी सरदी?'

और फिर ऊंची आवाज में एक बार 'बद्री विशाल की जय' कहा और आगे बढ़ गया।

मैंने कहा, मैं नास्तिक नहीं हूं, अभी तक।

उसका कारण वे पंडे नहीं हैं जो धमकते हैं :

'यहां भेंट चढ़ाओ,

और यहां,

और यहां।'

या, वे पुजारी जो हाथ फैलाये प्रसाद मांगनेवाली एक भद्र महिला पर तुलसी-दल दूर से फेंकते हैं।

वे तो राम-नाम के व्यापारी हैं।

मेरी आस्था जब डगमगाने लगती है तो उसकी सिलाई करते हैं—

देहात की एक अनपढ़ नारी जो अपनी सारी थकान की उपेक्षा करके कहती है, 'भगवान के दर्शन के लिए सामर्थ्य की कमी? बाबू ना, ना, ना। घट में प्राण रहते ऐसा नहीं हो सकता।'

एक प्रौढ़ा पहाड़िन जो मन के मनके जपती हुई, उल्लसित,मत्त, देव-मंदिर की परिक्रमा करती है।

एक वृद्ध तमिल ब्राह्मण जिसे भगवान के दरबार में सरदी व्यापती है न गरमी।

वे ही आस्था के सांचे सूरमा हैं।

मरे को दूध और भात

मेरे एक मित्र हैं। बंबई में कहीं रहते हैं। मिले एक युग बीत गया। कभी लिखते थे। फिर, फ़िल्मों में पापड़ बेलते रहे। कहीं खास नहीं पहुंच पाये। अब क्या करते हैं, मैं नहीं जानता। उन्होंने कभी एक नाटक लिखा था।

एक नव-दंपति हैं। उनमें आपस में अपार स्नेह है। पत्नी बीमार होती है। पति उपचार में कोई कोर-कसर नहीं रखता है। अपनी जमा पूंजी, सब कुछ लगा देता है। किंतु, सब अकारथ रहता है। पत्नी की दशा बिगड़ती जाती है। वह अंतिम सासें गिन रही है। पति एकदम मुफ़लिस है। मकान-मालिक किराये का तगादा करने आता है, ग्वाला दूध के हिसाब के लिए अधीर है, बनिया राशन बंद कर देता है। वह सबके सामने हाथ फैलाता है। सब मुंह फेर लेते हैं। वह पड़ोसी के द्वार पीटता है। उसने कान में रुई भर रखी है। साहूकार की तिजोरी की चाभी भी कहीं खो जाती है।

हारकर वह पत्नी के पास लौट आता है। पाटी पर बैठकर उसका सिर अपनी गोद में ले लेता है। अपलक, असहाय उसे देखता रहता है।

पत्नी दम तोड़ देती है। वह बिलख उठता है। उसका आर्त क्रंदन शून्य में भर जाता है। मकान-मालिक, ग्वाला, बनिया, पड़ोसी, साहूकार सब दौड़ आते हैं।

कफ़न के लिए पैसे की कोई कमी नहीं है।

'भैया, आप तनिक भी चिंता न करें। आड़े समय जो काम न आये, वह दो कौड़ी का आदमी होता है।'

नाटक का शीर्षक था : 'शवोपासक'।

प्रश्न है :

क्या हम सब, किसी-न-किसी रूप में, शवोपासक नहीं होते हैं?

जीते की उपेक्षा, मरे की पूजा, शायद सदा से हमारी परंपरा रही है। हमारी

घुट्टी मे है। तभी तो कहा है :

'जियत न पूछै बात,
मरे को दूध और भात।'

आगरे के किले में बंदी शाहजहां ने अपने बेटे औरगजेब को लिखा था :

'तू भी खूब मुसलमान है जो अपने जीते बाप को पानी की एक बूंद तक के लिए तरसा रहा है। धन्य हैं वे हिंदू जो अपने पितरों तक को पानी देते हैं।'

होमर यूनान का आदि कवि था। वह अंधा था। जब तक वह जीवित रहा, उसे कही रहने का ठौर-ठिकाना नही नसीब हुआ। सात नगरो में, फटेहाल, वह भटकता फिरता रहा।

जब होमर मर गया तो वही सात नगर उस पर अपना अधिकार जताने के लिए, उसे अपना मनवाने के लिए, एक-दूसरे से युद्ध पर उतर आये।

दूसरे महायुद्ध मे एक जरमन जनरल था, रोमैल। उसकी बड़ी धाक थी। उत्तरी अफ्रीका मे मित्र राष्ट्रो की सेनाओ को उसने नाकों चने चबवा दिये थे। लेकिन अंत में वह हार गया। उसे वापस जर्मनी बुला लिया गया। हिटलर उससे रुष्ट हो गया।

उसे विकल्प दिया गया :

वह आत्म-हत्या कर ले, नही तो फ़ौजी अदालत का सामना करे।

रोमैल बड़ा मानी-अभिमानी था। वह अपने कमरे में गया। दरवाजा बंद किया। कनपटी पर पिस्तौल रखी और दाग़ दी।

अगले दिन, अनजान कारणो से उसकी आकस्मिक (!!) मृत्यु पर सारे देश में शोक मनाया गया, राजकीय सम्मान के साथ अन्त्येष्टि की गयी और प्रशस्तियां गायी गयी।

हाइल हिटलर !

एक कवि हैं, थे। मर चुके हैं। कई साल हो गये। जैसे बताशा बैठ जाता है, एक दिन बैठ गये। बैठ क्या गये, ढह गये। मेरा तीस साल पहले उनसे परिचय हुआ था, इलाहाबाद में।

व्यंग्य-विनोद के धनी थे। खुलकर हंसते, हंसाते थे। अंत तक वैसे ही बने रहे। लेकिन उनके भीतर एक नासूर था जो सदा रिसता रहता था, जो एकांत के क्षणो मे असह्य हो जाता था। वह मुझसे कहा करते थे :

'मैं शापग्रस्त हू। मन के दर्पण में अपने को नही देख पाता हूं। साहस नही

है। मैं एक महापाप का भागीदार हूं। मैं क्यो नही साहस जुटा पाया उस समय धंधे से मुक्त होने का ?'

बंगाल के अकाल के दिनों वह कलकत्ते में एक सेठ की चाकरी करते थे। सेठ का बड़ा गोदाम था। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए दूर पास से जो अनाज आता था वह, बटने से पहले, सेठ के गोदाम मे रखा जाता था।

घर बैठे 'रमइया की दुल्हन' आ गयी थी और—

सेठ ने बाज़ार लूट लिया था !!

उसने अपने चाकर—हमारे कवि मित्र—को आदेश दिया था कि अनाज की हर बोरी को चौथाई खाली करके उसमे गेहूं के स्थान पर रेत और चावल के स्थान पर कुटी हुई सफ़ेद कंकडी भर दी जाये।

आदेश का पालन हुआ।

अकाल-पीड़ितों के लिए अनाज पूरा नही पहुंच रहा था। उनकी पंक्तिया लंबी, और लंबी होती जा रही थी। लोग मरने लगे थे। हजारो, लाखों मे मर रहे थे।

सेठ की तिजोरियां ठुस रही थी।

एक दिन सेठ ने अपने चाकर को बुलाया।

'अखबार पढ़ते हो ?'

'जी।'

'खबरें अच्छी नही हैं।'

'जी।'

'लोग मर रहे हैं और उनकी मिट्टी खराब हो रही है। फूकने की ठीक व्यवस्था नही हो रही है।'

'जी।'

'राम-राम, कैसा अनर्थ हो रहा है !'

'......'

'हमारा धर्म है कि कुछ करें।'

'जी।'

'वहां जो सरकारी और स्वयंसेवी संस्थाएं काम कर रही हैं, उनसे कह दो कि इस काम के लिए हमसे जितना बन पड़ेगा, उनकी सहायता करेंगे।'

'जी।'

आदेश का पालन हुआ।

कवि-मित्र कह रहे थे :

'मैं शापग्रस्त हूं। एक महापाप का भागीदार हूं। मैं क्यो सहसा नही जुटा

पाया उस धंधे से मुक्त होने का ? मेरा तन-मन क्या, मेरी आत्मा तक कलंकित है।'

दक्षिण अफ़्रीका रंगभेद की नीति का गढ़ है। वहा काले लोग न गोरों के साथ रह सकते हैं, न साथ दफ़नाये जा सकते हैं। उनके क़ब्रिस्तान अलग-अलग हैं।

लेकिन—

ट्रांसवाल प्रदेश के पत्र, जोहान्सबर्ग स्टार में अगस्त, 1978 में एक समाचार छपा :

काले-गोरों को एक ही दाहगृह में जलाया जा सकता है।

भगवान की महती कृपा, दोनों की राख मे तो अंतर नही माना !

कही पढ़ा था :

एक हड़का कुत्ता था। जिस घर झांकता, दुतकार दिया जाता। वह एक मोटर की चपेट मे आ गया। वही ठंडा हो गया। सड़क पर खड़े एक सज्जन ने मोटरवाले से कहा :

'बेचारे कुत्ते को मार दिया। भाई साहब, ज़रा आंख खोलकर गाड़ी चलाया करें।'

बस, इतनी-सी बात थी। उनमें ठन गयी। कहा-सुनी हुई। भीड़ जमा हो गयी। दंगा हो गया, जिसने साम्प्रदायिक रूप ले लिया। पुलिस को गोली चलानी पड़ी।

बाद मे, उस हड़के कुत्ते का जनाज़ा, सबने मिलकर, बड़ी धूम से निकाला !

मैं अपनी कहूं।

मैं तिलचट्टे को देख नही सकता हूं। जैसे ही निगाह पड़ती है, मेरे भीतर कोई हिंस्र पशु जाग उठता है। जूता, लकड़ी, जो मिले, और नहीं तो पैर से ही मसलकर, मैं वहीं उसका काम तमाम कर देता हूं। और फिर ?

उसे एक कोने मे सरका देता हूं। क्यों ?

इसलिये नही, कि मरे पर किसी का पैर नही पड़े !

सरदी के दिन थे। शिमले की पहाड़ियों में भारी हिमपात हुआ था और दिल्ली ठिठुर रही थी। सवेरे के समय मैं दफ़्तर जा रहा था। जहां भगतसिंह मार्ग कनाट प्लेस से मिलता है, मैं लाल बत्ती पर रुका था।

सामने सड़क पर, सीमेंट का एक टापूनुमा तिकोना बना था। उस पर एक जीर्णकाय व्यक्ति, चिथड़ों के बिछौने पर, फटी सूती चादर मे अपना तन समेटे, अकेला पड़ा था। उसके दांत बज रहे थे। उसकी सांस नही समा रही थी।

उधर सवारियों का एक रेला था जो बहे जा रहा था। उसे कौन देखता, कौन उसके लिए रुकता ?

जैसे जंगल मे किसी पेड़ से टूटकर एक पत्ता धरती पर गिर पड़े—उसका

एहसास किसे होता है ?

बत्ती बदली। मैं आगे बढ़ गया। वह व्यक्ति अंतर के किसी कोने में विस्मृत हो गया।

वाराखंबा मार्ग पर, मॉडर्न स्कूल के पास, भीड़ जमा थी। लोगों में उत्तेजना थी, सरगर्मी थी। पैदल चलतों को, सवारियों को रोका जा रहा था। उनसे मदद मांगी जा रही थी।

मेरे मन में कुतूहल हुआ। गाड़ी एक तरफ खड़ी करके मैं उतरा और जाकर देखा। एक भिखमंगा मरा पड़ा था। सर्दी से उसका अंग-अंग अकड़ गया था। हो सकता है, रात भर वहीं मरा पड़ा रहा हो।

कोई कह रहा था :

'भाई साहब, पुण्य का काम है। जितना दे सकते हैं, दीजिए। इसे निगमबोध घाट पहुंचा देंगे। यहां पड़ा रहा तो इसकी काया की बड़ी कुगत होगी।'

स्वर में मरे व्यक्ति के लिए सच्ची संवेदना थी।

तो क्या, तिकोने पर पड़े उस व्यक्ति का तब तक निस्तार नहीं होगा जब तक वह दम नहीं तोड़ देगा ?

जयपुर का चांदपोल बाजार।

रामचंद्र जी के मंदिर से कुछ आगे, पटरी के पास, एक अधेड़ नंगधड़ंग पड़ा था। निर्जीव-सा, बिलकुल निश्चेष्ट। उसकी आंखें सामने कहीं बंधी थीं।

पास से गुजरते हुए एक व्यक्ति ने अपने साथी से कहा :

'बापड़ा मर गया लगता है।'

'देखता हूं...। नहीं, हाल तो सांस चल रही है।'

'तो फिर क्या कर सकते हैं ? मर गया होता तो ठिकाने लगवा देते।'

मर गया होता तो ?

'मरे तो पहुंचावहिं गंगा।'

उसका दोष था, वह जीवित था।

मदर टैरीसा तुम कहां हो ?

मदर टैरीसा ?

हां।

वह कौन है ?

तुम मदर टैरीसा को नहीं जानते ?

नहीं, मैंने कभी नाम भी नहीं सुना।

वह कोई नहीं है।

वे चेहरे

कुछ ऐसा होता है—कोई चित्र, कोई चेहरा—जो हर व्यक्ति के मन में सदा बना रहता है।

कुछ ऐसा है—कोई चित्र, कोई चेहरा—जो केवल एक व्यक्ति के मन में सदा बना रहता है।

फिर ऐसा सयोग होता है कि उस एक व्यक्ति के लिए ये अलग-अलग चित्र, ये अलग-अलग चेहरे अभिन्न रूप से जुड़ जाते हैं—

किसी विपत्ति में,
किसी दुःख में।
उनका दु ख एक नहीं होता है,
उसमे कोई साम्य या संबंध भी नहीं होता है,
उस जुड़ने में कोई तुक भी नही होती है,
फिर भी, उस व्यक्ति के मन में,
एक का स्मरण आते ही, दूसरा पीछे से झांकने लगता है, और झांके जाता है।

चौथाई सदी बीत गयी, ऐसे चित्रों, ऐसे चेहरों के दो जोड़े—सच कहूं तो दो बेतुके जोड़े—मेरे मन मे अमिट रूप से अंकित हैं।

पहला जोड़ा :
इतिहास-पुरुष जवाहरलाल नेहरू
और
राजस्थान के किसी गांवटे की एक उजाड़, खंडहर-सी बुढ़िया।

उस शाम गांधी जी की हत्या हुई थी।

हम दफ़्तर, आकाशवाणी, में ही थे। हमने सुना था और सन्न रह गये थे। बोल जम गये थे, आसू सूख गये थे। काम कर रहे थे, शरीर चल रहा था, मन रुक गया था, शून्य हो गया था, एकदम शून्य। जवाहरलाल आकाशवाणी आये थे, देश को त्रासदी की सूचना देने। सरदार पटेल साथ थे। लोहे का रूप पिघला हुआ था।

जवाहरलाल का चेहरा सुता हुआ था, आंखें भारी और भटकती हुई। मुद्रा— जैसे सब लुट गया हो। स्टूडियो मे प्रवेश किया, कुर्सी पर बैठे। वह वहा थे और नही थे।

साढ़े आठ बजे। उन्होने बोलना शुरू किया :

'दोस्तो और साथियो,

हमारे जीवन से प्रकाश लोप हो गया है। सब ओर अंधेरा है। मैं नही जानता, मैं आपसे क्या कहूं, और कैसे कहूं। हमारे प्रिय नेता, जिन्हें हम बापू कहते थे, हमारे राष्ट्रपिता, वह नहीं रहे।'

'वह नही रहे।'

इन शब्दो के सुनते ही जैसे सब बंध टूट गये,

कोई दबा हुआ ज्वालामुखी फूट पड़ा,

आंखें झरने लगी, हिचकियां बंध गयी।

ऐसी स्थिति मे मुझे राजस्थान के गांवटे की उस उजाड़, खंडहर-सी बुढ़िया का स्मरण हो आया। क्यों, यह मैं क्या जानू?

कब, किस स्थिति मे, किसी का स्मरण क्यों हो आता है, यह कौन जानता है?

वह चूने-पत्थर के मलबे पर बैठी थी। वहा कभी उसका घर था। कभी क्यो, पिछली रात तक। घर था, परिवार था—भरापूरा परिवार। बेटे, बहुएं, बाल-गोपाल, एक नहीं—टोली-की-टोली। बड़ो की हसी और बालको की किलकारियां परछाईं की तरह एक-दूसरे से जुड़ी रहती थी। रात सब चैन से सोये थे।

और सवेरे?

वहां था मलबे का ढेर और उस पर बैठी, वह उजाड़, खंडहर-सी बुढ़िया।

रात-ही-रात प्रकृति ने चंडीरूप धारण किया। वर्षा हुई, ऐसी मानो आकाश फट पड़ा हो। बरसो से सूखे तालो के बाध टूट गये, एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा—कुल बीस से अधिक। उनका पानी आपस मे मिलता गया। उषा अभी पूर्व की देहरी पर ठिठक ही रही थी कि अंधेरे से जूझते हुए उसके मंद प्रकाश में लोगो ने देखा, विशाल आकार की एक लहर उनकी ओर वेग से बढ़ती चली आ रही है। भय से वे जहा-के-तहां जमे रह गये। देखते-देखते, मीलो तक खेत-

खलिहान सहर के पेट में समा गये। शेष रह गया विनाश के तांडव का एक भयानक दृश्य।

जब हम वहां पहुंचे, बुढ़िया चूने-पत्थर के मलबे पर बैठी थी। उसके नीचे, बाढ़ के साथ आयी मिट्टी से उसका घर दबा पड़ा था। अचल और बेसुध, पथराई आंखों से वह उस दिशा में देखे जा रही थी जिधर से रेला आया था। हमारे साथ उसका एक संबंधी था। उसने पूछा :

'और कहां गये ?'

बुढ़िया ने अपनी भावशून्य दृष्टि उस पर जमा दी।

उसने फिर पूछा :

'और कहां गये ?

बुढ़िया के चेहरे पर कोई रंग एक बार आया और गया। वह उसे देख रही जैसे पहचान नही रही हो।

उसने तिबारा पूछा :

'और कहां गये ?'

सहसा बुढ़िया की सारी सुध लौट आयी। उसने दारुण चीत्कार किया :

'कहां गये, कहां गये, कहां गये ? जहां मैं बैठी हूं, उसी के नीचे, अपने घर में, दबे पड़े हैं—सब, एक-एक। मैं उन्ही सबकी लाश पर आसन मारे बैठी हूं।'

जवाहरलाल से 'वह नही रहे' सुनकर जैसे प्रतिक्रिया हुई थी, वैसी ही, किंतु उससे तीव्रतर, बुढ़िया की हुई।

उसके भीतर दबा हुआ ज्वालामुखी फूट पड़ा, आंखों से पनाले बह निकले, वह फफककर रोने लगी।

अनभूले चित्रों, चेहरों का दूसरा जोड़ा :

आजादी की लड़ाई के अंधड़ में भी सदा कोयल-सी कूकनेवाली सरोजिनी नायडू,

और,

एक निरधन, निरीह बालिका जो मेरे देखते अनाथ हो गयी।

गांधी जी की हत्या के दो दिन बाद,

आकाशवाणी के स्टूडियो में,

सरोजिनी नायडू अपनी घनी वेदना को स्वर दे रही थीं :

'मृत्यु क्या है ? मेरे अपने पिता ने, जीवन के अंतिम क्षणो मे, जब उन्हें मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था, कहा था—न कोई जन्म है, न कोई मरण। सत्य की

खोज मे, आत्मा की उच्च से उच्चतर अवस्था प्राप्त करने के ये चरण मात्र हैं।— महात्मा गाधी सदा सत्य के लिए जिये। एक हत्यारे ने उन्हें सत्य की उच्चतर अवस्था तक पहुंचा दिया है, जिसकी खोज में वह थे।'

सरोजिनी नायडू की आखें बंद थी। उनसे आंसू रिस रहे थे, लगातार। बोली रह-रहकर कांप जाती थी।

'मेरे आचार्य, मेरे नेता, मेरे पिता की आत्मा को शांति न मिले,

हां, शांति न मिले, न मिले,

बल्कि उसकी भस्मि से ऐसी जीवंत शक्ति जाग्रत हो, उसकी चिता के चंदन की राख से, उसकी अस्थियों की चूरो से सारे देश मे ऐसे प्राण पड़ें, उसे ऐसी प्रेरणा मिले कि, उसकी मृत्यु के बाद, वह स्वतंत्रता की वास्तविकता मे फिर से जी उठे।'

लगता था, अपनी आखो के मुंदे कपाटों के परे, वह गांधी जी को अपने सन्मुख, साकार देख रही थी।

'मेरे पिता, तुम विश्राम न करना, न हमें विश्राम करने देना। हमें अपने पथ पर बनाये रखना।'

उस घनीभूत पीड़ा के स्वर से मैं अपने अंतरतम तक सिहरा उठा।

मेरे लिए वहा रहना असह्य हो गया।

उस बूढ़े का शरीर ठठरी भर था। न जाने किस कोने मे उसके प्राण अटके थे। वह लाठी के सहारे चल रहा था। पाच-दस डग भरता, सांस उखड जाती, वह थम जाता। फिर चलने लगता। लोग उसे देखते, शायद न देखते। शायद देखते हुए भी न देखते।

उसके साथ एक छोटी, अबोध बालिका थी। एक हाथ से उंगली पकडे, दूसरे हाथ मे एक गेंद लिये, जिसे वह कभी उछालती, कभी धरती पर ठपाती। उसकी गति में, उसके हाव-भाव में, चचलता थी। वह बूढ़े के बार-बार रुकने से ऊब रही थी। वह झल्लाती :

'बाबा, चलो न! आज तुम्हें क्या हो गया है? ऐसे चलोगे तो मैं फिर तुम्हारे साथ नही आऊंगी।'

दोषी स्वर मे बूढ़ा कहता :

'अच्छा बेटा, अच्छा। ले चल।'

और वह तेज क़दम भरने की बेकार कोशिश करता।

अकस्मात्, एक स्थान पर बूढ़े ने टेका लिया कि लाठी फिसल गयी। वह अपने को सभाल नहीं पाया। हहराकर धरती पर गिर गया :

और ढेर हो गया।

बालिका भौंचक रह गयी। यह एकदम बाबा को क्या हो गया? वह उसका हाथ खींचने लगी।

'बाबा, उठो। उठो न बाबा। बाबा, ओ पोपले बाबा, सुनते नही? मैं कहती हूं, उठो—नहीं तो मैं चुटकी भर लूंगी। नही उठते? तो लो, लो। अरे, यह तो अब भी नही उठते! बाबा, तुम्हें क्या हो गया है? मेरे बाबा को क्या हो गया है? बाबा, मैं क्या करूं? कोई आओ, मेरे बाबा को देखो!'

उसका रुदन कैसा था? क्या कहूं?

'मेरे शब्द की इतनी समाई नहीं,
यह मेरी भाषा की हार है।'

यह और वह

'देखो,
इस चित्र को, और
इसको।'

—हैमलेट

वह पूस की एक कुहासी भोर थी। एक दुर्बल उजास धुंध को भेदने का जतन कर रहा था। चारों ओर हल्की आभा व्याप्त होने लगी थी।

गरम लबादे मे लिपटा मैं घूमने निकला था। फिर भी, हेमंती हवा के थपेड़ों से शरीर झुरझुरा रहा था।

घर से थोडी दूर एक पुलिया थी। उसके पार, लकड़ी के माल का एक सरकारी गोदाम था।

मैं उसके पास से गुजरा और ठिठक गया।

गोदाम का एक हिस्सा टूटे टीन की छत से छाया हुआ था। उसके नीचे ईंटों पर लकडी का एक फट्टा टिका था—आधा टीन की छत के नीचे, आधा खुले आकाश के। फट्टे पर, अलसाई, अगडाती, एक युवती बैठी थी। कम-से-कम वस्त्र पहने, वे भी अस्त-व्यस्त। शीत से नितांत बिरानी। पास, कंधे तक सूती दोहर ताने, एक पुरुष सो रहा था। उसका पति ही होगा।

मैंने उसे देखा। उस हल्के प्रकाश मे भी लगता था जैसे :

'सोनजुही-सी जगमगाता, अंग-अग जोबन जोति'

क्योंकि :

'खुसरो रैंन सुहाग की जागी पी के संग।'

मन मे वह दृश्य सहेजकर मैं आगे बढ गया।

बात आयी-गयी हुई।

एक चिलचिलाती, झुलसाती जेठ की दुपहरी।

आग से धधकती धरती, लू से उठते बगूले, धूल से भरा आकाश।

ऐसे मौसम में मैं घर से निकला, पड़ोस मे लगे डाक के बंबे मे एक आवश्यक पत्र डालने।

कुछ ही दूर चलकर एक अंधा मोड़ था। वहां से सड़क एक झाड़ी के पीछे ओझल हो जाती थी।

सहसा झाड़ी के पीछे से एक नारी-मूर्ति प्रकट हुई। थकी, हारी, टूटी। एक सड़ियल बच्चा गोद में, एक मरियल बच्चा पल्ला पकड़े पीछे सिसकता हुआ। फटे-पुराने वस्त्र, किसी तरह तन ढके। नंगे पांव—अपने तले की अंगार-सी धरती से नितांत उदासीन। चेहरे पर चीत्कार करती बेबसी का भाव।

वह मेरे पास से गुजरी। मैंने उसे देखा। माथा ठनका। उसे फिर देखा, फिर-फिर देखा। संशय विस्मय मे, विस्मय अचंभे में बदल गया।

हीरा और कोयला एक ही पदार्थ होते हैं।

यह वही थी, वही—उस कुहासी भोरवाली, अंग-अंग जोबन जोति से जगमगाती सोनजुही!!

दो फ़कीर : दो रूप

दो फ़कीर हैं।

दोनो भीख लेते हैं, पर वे भिखारी नही हैं। वे हाथ नही फैलाते हैं, मांगते नहीं हैं। इतनी ही समानता है उनमे। नही तो एक उत्तर है, दूसरा दक्षिण। एक धमकता है और पाता है। दूसरे को देखकर अनायास मन में जो भाव जगता है, उसकी सही अभिव्यक्ति रहीम की यह उक्ति करती है :

'उनते पहले वे मरे
जिन मुख निकसत नाहिं।'

पहला :

दूर से, भीड़ के शोर को चीरती हुई, आवाज आती है—'दे'। बड़ी कड़क आवाज है। बरबस खींचती है। पास आती है। दुकानदारो मे खलबली मच जाती है। सबका हाथ अपनी गुल्लक मे जाता है। हरेक छोटा-बड़ा सिक्का निकालता है और तैयार रहता है।

आवाज का धनी प्रकट होता है। काली, बनी हुई टोपी, काला लंबा चोंगानुमा कुर्ता, काला कमरबंद, काला तहमद, काली दाढ़ी, काला रंग। एक हाथ मे काला कासा, दूसरे मे चिमटा। कासेवाला हाथ आगे बढ़ा हुआ है और कड़क आवाज मे केवल एक शब्द है, बार-बार—'दे।' मानो भिक्षा नही, अधिकार मांग रहा है। कासे मे सिक्के गिरते हैं, गिरते जाते हैं—खन, खन, खन! यह खेल कुछ क्षण रहता है। देखते-देखते वह फ़कीर इधर-से-उधर गुजर जाता है। आवाज निरंतर वही रहती है—'दे।'

विस्मित, मैं एक दुकानदार से पूछता हूं, 'क्यों भाई, उससे डरते हो?'
'बहुत।'
'क्यो, उसमे ऐसा क्या है?'

'साहब, उसे न दो तो अगले-पिछले सबको कोसता है। बुरी भवया देता है। कही लग न जाये, इसी से डरते हैं। चार टके ले और अपना मुंह काला करे।'

वह दाता का तिरस्कार करता है। भय और आतंक उसके हथियार हैं। बड़े सबल, बड़े सफल।

दूसरा :

उसे पहली बार मैंने एक सब्जी बाजार मे देखा था। मैं उधर से गुजर रहा था। किसी ने बूढ़ी, थकी आवाज मे गुहारा—'अल्लाह !' मैंने मुड़कर देखा। वह घुटनों पर हाथ टेके, सिर झुकाये, सिजदे की मुद्रा में खड़ा था। आंखें धरती पर गड़ी थी। एक पुराना, धात का कटोरा उसके पैरो के आगे रखा था। उसमे कुछ छोटे सिक्के पड़े थे। मैं आगे बढ़ गया। कुछ दिया नही। उसने एक बार 'अल्लाह' और कहा और सीधा खड़ा हो गया। कोई गाली नही दी, कोई टेढ़ी नज़र से नही तरेरा। मेरे मन ने मुझे कचोटा, लेकिन मैं वापस जाने से तो रहा।

कई दिन बाद फिर वही मिल गया। मुझे आते देखकर उसी मुद्रा मे खड़ा हो गया और वही एक शब्द मुंह से निकाला—'अल्लाह।' उसके चेहरे पर एक अजीब पाकीजगी थी। मैंने बटुवे से पच्चीस पैसे का सिक्का निकाला और बरतन मे डालने को झुका। उसने मेरा हाथ रोक दिया। मुझे हैरत हुई।

'क्यों, क्या हुआ ?'

'बस, दस पैसे।'

'अरे, इसमे क्या है, पच्चीस ले लो।'

'नही, दस पैसे, बस।'

उसके हाथ अनुनय मे जुड़ गये थे।

मैं उसे मना सकता था, न मना कर सकता था। दस पैसे ही डाले। जब मैं वहां से चला तो वह खुदा का बंदा, अपनी पूर्ववर्ती सिजदे की मुद्रा मे, धरती पर आखें गड़ाये, खड़ा था और उसके मुंह से वही एक शब्द निकल रहा था—'अल्लाह !'

यह फ़क़ीर अपना आपा मिटाकर दाता को ऊंचा उठाता है। विनय, दीनता उसके सबल हैं।

क्या यह फ़क़ीर उस पहले फ़क़ीर से कम सबल या कम सफल है ?

न उघरहिं अंत

कहने को तो गुसाइँ जी कह गये :

'उघरहिं अंत न होहि निबाहू,
कालनेमि जिमि रावण राहू।'

और उनसे सदियों पहले यूनानी दार्शनिक एपिक्यूरस भी कह गया था :

'कुकर्मी कभी पकड़ा न जाये और उसका छिपाव अंत तक बना रहे, यह असंभव है।'

अर्थात् :

'सत्य अवश्य उद्घाटित होकर रहेगा।'

मूल्यों में आस्था बनाये रखने के लिए, 'जब-जब होहि धरम की हानी' वाला गुर बड़ा सटीक और कारगर है, लेकिन अपने चारों ओर देखिए, क्या हो रहा है। अधर्म पनप रहा है। कालनेमि फल-फूल रहे हैं।

'साधु संत मारे फिरें,
माल भूतिया खायें।'

और आस्था और धर्मवाले—जितने भी बच रहे हैं—आस लगाये बैठे हैं,

'कबहु तो दीनदयाल के
भनक परेगी कान।'

जोश के शब्दों में ये सब 'अफयूनी' हैं।

आपको एक कथा सुनाऊं? यदि आप पूछें, सत्य है क्या? तो मेरा उत्तर है—मूलतः। कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत अलंकरण हो गया हो तो क्षमाप्रार्थी हूं। आम खाइये, पेड़ गिनने से क्या लाभ? वैसे मैं चाहूंगा कि आप इस कथा को प्रतीक-स्वरूप अधिक मानें। असली नाम नहीं लूंगा। उचित भी नहीं होगा। और फिर, एक नाम लेकर क्या होगा? ऐसे व्यक्तियों की कोई कमी नहीं है। आपमें से हर

कोई अपना अनुभव सुनाने लगेगा। इस समय बात मैं अपनी कह रहा हूं। अपने अनुभव को शब्द दे रहा हूं। आपको भी निमंत्रण है, कभी अपनी सुनाएं।

मेरे एक पड़ोसी थे। नाम था भगवानस्वरूप। उनके गुण, नाम के अनुरूप नहीं, विपरीत थे। विडंबना जो हुई। सरकारी नौकर थे। सात सौ-आठ सौ वेतन मिलता था। भरपूर परिवार था। जब पड़ोस में आये, सामान्य रहन-सहन था। कह लीजिए, गुजर चलता था। आते-जाते कभी राम-श्याम हो जाती। साथ उठना-बैठना नहीं था।

नारी-मुक्ति-आंदोलनवाले—उंहु, वाले नहीं, वालियां—बुरा न मानें तो एक बात कहूं। कोई आरोप नहीं है। औरतों में पटरी जल्दी बैठती है, और उखड़ती भी वैसे ही है। हमारे घर की दीवार उनके घर से सटी हुई थी। दिन में जब मर्द निकल जाते, उसके बाद रानी और उनकी पत्नी में बातचीत होती। शुरू में वही अचार-मुरब्बे बनाने की प्रक्रिया से, और बाद में खुलकर।

एक दिन रानी ने पूछा, 'आपके यहां टेलिफ़ोन है?'

'हां जी।'

'सरकारी होगा।'

'नहीं जी, अपना लगवाया है।' उनके स्वर में ठसक थी।

रानी को आश्चर्य हुआ, कहा कुछ नहीं। श्रीमती पड़ोसिन को हुलास छूट रही थी।

'हुआ यूं बहन जी, सरकार ने किसी घोटाले की जांच के लिए एक आयोग बैठाया। हमारे साहब आयोग के अध्यक्ष के निजी सचिव बनाये गये। जब देखो, सवेरे-शाम, अध्यक्ष बुला रहे हैं। आदमी भेज दें, चले जाओ, अभी। बात छोटी हो, बड़ी हो, कैसी ही क्यों न हो। एक दिन इन्होंने कहा—सर, आपको कष्ट होता है। गाड़ी का पेट्रोल भी फुकता है। आज्ञा हो तो एक प्रस्ताव रखूं। उससे आपको भी सुविधा हो जायेगी और सरकारी पेट्रोल में भी बचत होगी। मेरा क्या, मैं तो सेवक हूं। जब आदेश होगा, उपस्थित हो जाऊंगा।

अध्यक्ष ने पूछा—क्या प्रस्ताव है?

—मेरे घर टेलिफ़ोन लग जाये। आप जब जो चाहें पूछ सकते हैं, आदेश दे सकते हैं, घर बुला सकते हैं। तुरंत पहुंच जाऊंगा।

—पर सरकारी टेलिफ़ोन तो तुम्हारे घर लग नहीं सकता।

—मैं अपना निजी लगवा लूंगा।

—उसका ख़र्चा कौन उठायेगा?

—सर, मैं उठाऊंगा।

—तुम्हारे पास इतना है?

—आपका आशीर्वाद चाहिए, सब व्यवस्था हो जायेगी।

—कैसे ?

—आप टेलिफ़ोन पर जब बुलायेंगे, मैं अपनी सवारी से आ जाऊंगा। लाने, ले जाने के लिए गाड़ी का प्रबध करने का झंझट मिटेगा। मैं टैक्सी के भाड़े का बिल प्रेषित करूंगा। आपकी मंजूरी के बाद कोई सवाल नही उठेगा। भाडे के जो पैसे मिलेंगे उनसे टेलिफ़ोन लगवाने और किराये का बिल चुकता होता रहेगा।

—तुम्हारे पास सवारी है ?

—कोई पुराना स्कूटर ले लूगा। टैक्सी के भाड़े से उसकी किस्तें भी चुक जायेंगी।'

घोटाले के मामले के जांच-आयोग के अध्यक्ष ने अपनी स्वीकृति दे दी।

श्रीमती पड़ोसिन के चेहरे पर अपने साहब की समक्ष बूझ पर कितना सतोष था जब कहानी समाप्त करते हुए उन्होने रानी से कहा :

'बहन जी, यह सब ऐसे ही चलता है।'

एक दिन लगा, मौसम बदल गया है। पड़ोस के पेड पर बहार का निखार आ गया है। वह नये पत्तो के परिधान से आवेष्टित हो गया है। फल गदराने लगे हैं।

भगवानस्वरूप से मिलने आनेवालों की सख्या बढ़ने लगी। सभी झुटपुटे के बाद आते। घर में एक कक्ष अलग कर दिया गया। वहीं बैठते। दीवार पर भगवान का चित्र था। वह सर्वदर्शी है, उससे क्या छिपाना ? जो हो, उसके सामने हो, उसकी साक्ष्य से हो। उसी का आशीर्वाद था। मोटे आसामी मोटरो पर आते। टेलिफ़ोन पर पूर्व-सूचना होती। घर की ख़ास सफ़ाई होती। वह स्वय सजे-बने प्रतीक्षा करते। हमे भी आभास हो जाता। हैकू कवि की पक्तियां याद आ जाती :

'पहाडी के पीछे पक्षी के स्वर मे
चपलता आ गयी है।
वसंत आ गया है।'

इस संदर्भ में वसत आसामी का पर्याय है।

अगले दिन भगवानस्वरूप और पत्नी बडे सवेरे मदिर जाते। भेंट चढ़ाते। प्रसाद पाते। माथे लगाते। सतोष की मुसकान भरे घर लौटते। भगवान का कर चुका आये थे।

कुछ दिन हुए, एक दैनिक मे दक्षिण के एक चोर की कहानी पढ़ी थी। नाम था वैंकटेशन। बड़ा भगवद्भक्त था। चोरी मे जो माल लाता, आधा अपने इष्ट देव

के मंदिर में छोड़ आता। बेचारा करमहीन निकला, पकड़ा गया।

'तुम जानते हो, हर व्यक्ति की कीमत होती है?
मैंने सुना है, भगवान की भी कीमत है।
बोली ऊंची लगानी होती है।
जो बढ़ सके उसका काम अवश्य बनता है।'

भगवानस्वरूप बढ़ रहे थे। उनका काम बन रहा था, खूब बन रहा था। एक हम हैं जो भगवान के दरबार में पहुंचे और अपनी ऐंठ में वैसे-के-वैसे, कोरे, चले आये।

एक देवस्थान है। देश का सबसे धनी देवस्थान। जब हम वहां पहुंचे तो भगवान शयन-कक्ष में जा चुके थे। दर्शन नहीं हो सकते थे। निराश हो लौटने लगे। एक पंडे ने यह देख लिया। हमारे पास आया, बोला :

'आप देवता के दर्शन करना चाहते हैं?'

'हां, लेकिन वह शयन-कक्ष में हैं। विश्राम कर रहे हैं। कई घंटों के बाद पट खुलेंगे। तब तक हम रुक नहीं सकते।'

'आप शयन-कक्ष में भी दर्शन कर सकते हैं।'

'वह कैसे? वहां तो प्रवेश वर्जित है!'

'पिछवाड़े के दरवाजे से घुस सकते हैं। उसके लिए विशेष शुल्क देना होगा।'

'यह विशेष शुल्क कैसा?'

'पुजारी शयन-कक्ष में प्रवेश के लिए ऐसे ही थोड़े मान जायेगा।'

'यानी उसे रिश्वत देनी होगी?'

'आप दर्शन भी करना चाहते हैं और ठहर भी नहीं सकते हैं तो उसके लिए कुछ अतिरिक्त खर्चा तो करना ही होगा।'

यह उस भगवान के दर्शन के लिए रिश्वत देने को कह रहा था जो घट-घट में व्याप्त है।

हम चले आये।

भगवानस्वरूप के घर में टी० वी० आ गया, फ्रिज आ गया, नया फ़र्नीचर आ गया। प्रायः सब शाम के धुंधलके के बाद। पहले की सीधी, सहमी लड़कियां आधुनिका बन गयीं। शलवार-कुर्ते छूट गये। उनका स्थान तंग ब्लाउज और स्लैक्स ने ले लिया। बाल बॉब-कट हो गये। और लड़का? बाप ने मारी मेंढकी, बेटा तीरंदाज। पत्नी की सूती साड़ियां भूला-बिसरा स्वप्न हो गयीं। भगवानस्वरूप धन के साथ तन से भी समृद्ध हो गये। कभी बाहर बैठे होते और भीतर टेलिफ़ोन की घंटी

बजती तो ऐसे दौड़ते कि काजीरंगा के वासी एक चर्बीदार बेडौल जीव के सदृश लगते।

एक रोचक घटना।

एक फलवाला आता था। श्रीमती पड़ोसिन पहले उससे भाव पूछकर छोड़ देती थी। फिर बिना भाव पूछे किलो भर सौदा लेना शुरू हुआ और, कुछ ही दिनों में, पसेरी तक पहुच गया। एक दिन बोली, इतने पैसे ले और सारा टोकरा रख जा। फलवाले ने टोकरा रखा, पैसे गिने, पर ठेला हांकने से पहले कुछ झिझका। लगा, कुछ पूछना चाहता है। वह ताड़ गयी।

'क्या बात है, पैसे कम रह गये ?'

'नहीं'

'तो ?'

'बीबी जी, बुरा न मानें तो एक बात पूछूं ?'

'पूछ।'

'आपके साहब को कितनी तनख्वाह मिलती होगी ?'

'क्यों, तुझे क्या ?'

'पाच-छः हजार से कम तो क्या होगी ?'

'अरे, सबको देने वाला देता है, और जब देता है तो गिनना क्या ? उसके दरबार में कोई कमी नहीं है।'

कैसा आस्थापूर्ण सौदा था !

ठेलेवाले की पहेली अनबूझी रह गयी।

श्रीमती पड़ोसिन को यह निश्चय ही अच्छा नहीं लगा कि उस समय हम वहां खड़े थे और हमने सब देख-सुन लिया था।

जैसे-जैसे भगवानस्वरूप के आसामियों के आने की संख्या बढ़ती गयी, उनके आत्मीयों के आने की घटने लगी। वह समझ गये। कहते, 'सब कुढ़ते हैं। अपने कहानेवाले सब ऐसे होते हैं। दम हो तो खुद भी कमा लें। चूड़िया पहननेवाले कब मैदान जीते हैं ? जो मारे सो मीर।'

अपनी मीरी से वह स्वयं अभिभूत थे !

भगवानस्वरूप के मन में एक नया चाव उठा। आयोग के अध्यक्ष के घर बड़ा सुंदर बाग़ था। भगवानस्वरूप के साधारण-से घर के सामने छोटा-सा मैदान था। उसमें पहले रहनेवाले दूब लगा गये थे। इन्होंने एक माली रखा। बढ़िया खाद आयी। (यह न पूछिए, उसके पैसे कितने दिये) फूल और सब्जी के बीज पड़े। रोज दफ्तर से लौटकर आते और देर तक क्यारियों को निहारते। माली से पूछते,

'अभी बीज नही फूटे ?' जब वह अंकुराये तो प्रफुल्ल हो गये, औरत के पहला पेट रहने की अनुभूति सदृश। फूल और सब्जी के प्रसव के दिन गिनते। बाग़बानी के बारे में पूरे निरक्षर भट्टाचार्य थे। गुलमेंहदी और गुलदाउदी मे उनके लिए कोई अंतर नही था।

एक दिन छोटी लड़की ने पूछा, 'पापा, शलजम में पत्तियां आये इतने दिन हो गये, सब्जी नही बैठी अब तक ?'

'बैठ जायेगी।'

'वह जमीन के भीतर तो नही बैठती है ?'

'नही, वह करमकल्ला होता है।'

वाह !!

कभी अध्यक्ष सपरिवार उनके घर आते। उस दिन वातावरण बदला हुआ होता। बड़ा सत्कार होता। फल-मिठाइयो के ढेर होते। भगवानस्वरूप बड़े विनीत, विनम्र बने रहते। पत्नी भीगी बिल्ली बन जाती। बड़ी मनुहार, मनुव्वल होती। अध्यक्ष प्रसन्नता व्यक्त करते। भगवानस्वरूप कृतकृत्य हो जाते। हाथ बांधकर कहते, 'सब आपकी कृपा का फल है। बस, कृपा बनी रहे।'

अपवादस्वरूप वह सत्य बोलते। हां, यह सत्य दुबारा होता। जहां पैसा बोलता है, वहां असली सत्य मुंह छिपाने के लिए कोई अंधेरा कोना तलाशता है।

कभी एक कथा पढ़ी थी। उसकी सीख थी, असली सत्य कितना दुखदायी होता है !

एक सज्जन थे। सदा सत्य बोलते थे। राजा हरिश्चंद्रवाला सत्य—'सूरज टरै, चंद्र टरै, टरै जगत व्योहार।' भगवान ने प्रसन्न होकर उन सज्जन का मुख आभा से मंडित कर दिया, वैसा ही आभा-मंडल जैसाकि चित्रों में ईसाई देवदूतों के मुख के चारो ओर देखा जाता है। सोते-जागते, सदा, उनके साथ। लोगों के लिए अजूबा बन गये। जिधर जायें, आंखें उन्हें घूरें। वह तंग आ गये, पर करें तो क्या ! आभा-मंडल छुटाये न छूटे। भगवान से प्रार्थना करते कि उन्हें मुक्ति दिलायें। वह होना था न हुआ।

उनकी पत्नी बीमार पड़ी। डॉक्टर ने दवा बतायी। सांझ हो गयी थी। दुकानें बंद होने लगी थी। जहां जायें कपाट बंद। समय के बाद दवा बेचना अवैध था। हताश घर लौट रहे थे। देखा, एक दवा की दुकान के पिछले भाग मे रोशनी चमक रही थी। उधर पहुंचे। एक चोर-दरवाजा था। खटखटाया। बग़लें झांकते हुए दुकानदार ने खोला। फुसफुसाया, 'क्या है ?'

'पत्नी बीमार हैं। सवेरे तक उनका न जाने क्या हाल हो। दवा चाहिए।'

'लेकिन दुकान तो बंद हो गयी है।'

'जैसे भी हो भाई, दवा दे सको तो कृपा होगी।'

'दाम दुगने होंगे।'

'दे दूंगा।'

'रसीद नहीं दूंगा।'

'न देना।'

'अंदर आ जाओ।'

जैसे ही उन्होंने दवा ली और पैसे चुकाये —अवैध कृत्य पूरा हुआ—आभा-मंडल लोप हो गया। बड़े सुखी हुए। अंत तक उसके प्रकट होने का कारण जान पाये न लोप होने का।

मन का सुख-चैन साधु-संतों की बात है। उचित-अनुचित का झमेला अध्यात्म-वादियों के लिए है। भगवानस्वरूप को उससे क्या सरोकार? उनके जीवन में कोई अभाव नहीं था। पैसे की शक्ति अमोघ होती है। वह जीवन में प्राण फूंक देता है।

अचानक एक दिन, उस कमरे से जिसमें भगवान का चित्र टंगा हुआ था, ऊंची आवाजें आने लगीं। तीखी और तल्ख। एक भगवानस्वरूप की थी, दूसरी अनजानी। वह जितना शांत कर रहे थे, दूसरी उतना ही उफनती आ रही थी। सहसा, भड़ाक से दरवाजा खुला और एक लम्ब-तड़ंग व्यक्ति प्रचंड वेग से बाहर निकला और यह कहता चला गया :

'जनाब, बांटकर खाने में ही भला है। उस अपने दोस्त से भी कह दीजिए कि बिना साझेदारी बात नहीं बनेगी। मैं सच कह रहा हूं।'

वह यह भी कह सकते थे—'मैं झूठ नहीं कह रहा हूं।' ऐसे संदर्भ में सत्य जैसा पवित्र शब्द दूषित हो जाता है। राम और रावण का सत्य एक नहीं होता है।

भगवानस्वरूप जब कमरे से बाहर निकले, उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं।

वह चीख रहे थे, विक्षिप्त से। उनकी एक ही टेक थी—'ससुरी, हरामजादी, बड़ी तितली बनी फिरती है। मार डालूंगा तुझे।'

'इतनी बड़ी लड़की है, क्या कर रहे हो?' श्रीमती पड़ोसिन कभी दबे स्वर में बीच में टोकतीं।

'तुम चुप रहो, मैं इसे मार डालूंगा। बड़े पंख निकले हैं। क्या मैं इसलिए कमाता हूं?' वह उग्रतर हो जाते।

प्रकोप का पात्र आधुनिका बड़ी लड़की थी। उसकी कोई प्रतिक्रिया कानों में नहीं सुनायी पड़ रही थी।

उसके बाद का सन्नाटा बड़ा मुखर था।

भगवानस्वरूप घर से निकले और कहीं चले गये। दूर से ऐसा आभास हुआ कि कभी-कभी अपनी चाल में वह झूल जाते।

एक रात उन्हें भारी दिल का दौरा पड़ा। अस्पताल ले जाये गये। कई दिन प्राण अधर में झूलते रहे। सब आसामी काफूर हो गये। कोई पुर्सानिहाल नहीं। 'दिनन का फेर' था। किंतु अभी और आयु का जोग था। मनहूस साइत टल गयी। अस्पताल से घर आये। आत्मविश्वास खो बैठे थे। चलते तो पैर कांपते। बार-बार पूछते—'मैं ठीक तो हो जाऊंगा न?' सब उन्हें आश्वस्त करते।

वह स्वस्थ हो गये। सब काम पूर्ववत् करने लगे। धंधा चालू हो गया। नीके दिन लौट आये। बात बनने में देर नहीं लगी। आसामी फिर मंडराने लगे।

फिर वही भगवान के चित्रवाला कक्ष, उसी की साक्ष्य और मंदिर की आवाजाही।

मैंने जब वह पड़ोस छोड़ा, भगवानस्वरूप दिनों-दिन उन्नति कर रहे थे। गुसाईं जी की 'उघरहिं अंत' वाली उक्ति को ठेंगा दिखा रहे थे।

भगवानस्वरूप एक, अकेले नहीं हैं। एक विशाल बहुमत उनके साथ है। राजनेता-अभिनेता हो, डॉक्टर-वैद्य हो, पंडित-पुजारी हो, उद्योगपति-व्यापारी हो, आपका और मेरा भाई हो—कहां अपवाद ढूंढ़ें? उनकी श्रेणी और संख्या असीम है, अपरिमित है। वे मूल्यों को नकार रहे हैं और मनवांछित फल पा रहे हैं।

आप आज की दुनिया के नक्कारखाने में अपनी तूती बंद कीजिए—

या—

शिक्षा लीजिए जॉर्ज बर्नार्ड शा के जीवन की इस घटना से :

लंदन के एक थियेटर-हॉल में शा के नये नाटक की पहली प्रस्तुति थी। समाप्ति पर दर्शकों ने देर तक करतल-ध्वनि से स्वीकृति और हर्ष का प्रदर्शन किया। एक व्यक्ति को नाटक घटिया लगा। वह चीख-चीखकर अपशब्द बकने लगा। उसे सुनकर शा मंच पर आये। जिस दिशा से उस व्यक्ति की आवाज आ रही थी, उधर मुड़कर बोले।

'सुनिए, मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं लेकिन इतने लोगों की भीड़ में, मेरी और आपकी, दो जनों की क्या बिसात है?'

बिसात तो सबकी हो सकती है, लेकिन—

सत्य का परचम उठाकर 'एकला चलो रे' के लिए कौन, और कितने, लोग तैयार हैं? बड़ी कठिन डगर है।

एक मंदिर, एक महात्मा

एक राम-मंदिर है।

नया बना है। छोटा है, किंतु भव्य और सुंदर। पूरा संगमरमर का है। प्रकाश में ऐसे दमकता है, जैसे मोती। मूर्ति देखकर लगता है, 'देखत परी ठगोरी।' द्वार पर, दीवारों पर मानस से चोपाइयां उकेरी हुई हैं। आरती होती है, भजन-कीर्तन होता है। जग राममय हो जाता है।

दशहरे का पर्व था।

बंबई से एक नामी कीर्तनिया आया था। भक्त-जनों के ठट्ट-के-ठट्ट उमड़े पड़ रहे थे। मंच के सामने हरी दूब का मैदान था। खचाखच भरा था। दो मित्रों ने मुझे देखा। अपने को थोड़ा समेट लिया। मैं किसी तरह धकियाकर वहां जम गया।

कीर्तनिया राम की स्तुति गा रहा था। कंठ मधुर था। स्वर हृदय से फूट रहे थे।

मेरा मन रम गया।

मैं स्तुति में लवलीन था। पीछे से किसी ने छुआ। एक मित्र थे। कान में फुसफुसाये :

'आपको मालूम है, यह मंदिर किसने बनवाया है?'

'हां।'

'पांच करोड़ लगा है।'

'लगा होगा।'

यह बतकही मुझे अखर रही थी।

'आप जानते हैं, रुपया कहां से आया है?'

'नहीं।'
'बताऊं ?'
'फल चोखा है तो पेड गिनने से क्या लाभ ?'
मैं उन्हें चुप करना चाहता था। असफल रहा।
'दो नंबर का है।'
'क्या ?'
'कालाधन है।'
'नहीं।'
'नहीं क्या, कर से बचने के लिए धर्मादे में लगा दिया। रुगे में धर्मात्मा, दानवीर की उपाधि और मिल गयी।'
'यह कैसे हो सकता है ?'
'यह ऐसे ही होता है।'
'तुम सच कह रहे हो ?'
'सच न होता तो क्यों कहता ?'

मन में कही एक अमरीकी नाटक के संवाद की अनुगूंज सुनायी दी। प्राचीन काल का एक राजा अपने पुजारी से कहता है :

'सुनो, मैं तुम्हें चांदी के सौ सिक्के देता हू। क्या तुम अपने परमात्मा को मना सकते हो कि वह अपना हाथ मुझसे दूर रखे ?'

कुटिल पुजारी उत्तर देता है :
'कोशिश कर सकता हू, महाराज !'

मुझे लगा कि मेरे नीचे की हरी दूब सूख गयी है। उसमें गोखरू उग आये हैं। मुझे चुभ रहे हैं।

कीर्तनिये के बोल कही दूर, बहुत दूर जाकर खो गये थे।
मैं उठ खडा हुआ।
मित्र को अचरज हुआ। 'उठ क्यों गये ?'
'मैं जा रहा हूं।'
'अभी से, क्यों ?'
'कुछ नहीं।'
'फिर भी ?'
'बस।'
'मेरी बात का बुरा मान गये ?'
मैंने उत्तर नहीं दिया। वहां से चला आया।

मेरी-उसकी न्यूयॉर्क में भेंट हुई थी।

मैं संयुक्त राष्ट्र कार्यालय में सूचना अधिकारी था वह पत्रकार था। उसका नाम था, यूसुफ बुच। कश्मीरी मूल का पाकिस्तानी था। बड़ा कट्टर। अक्सर अमरीकी समाचार-पत्रों में भारत के विरुद्ध ज़हर उगलता रहता था। गांधी जी उसे फूटी आंख नहीं सुहाते थे। जब मिलता, कहता :

'तुम्हारा वह बुड्ढा बड़ा मक्कार था।'

मैं विरोध करता तो पैंतरा बदलता।

'मुआफ़ करना गोपालदास, मैं भूल जाता हूं। तुम लोगों का तो वह, क्या कहते हैं, राष्ट्रपिता है। तुम्हारे सामने उसकी शान के ख़िलाफ़ मुझे कुछ कहना नहीं चाहिए।'

उसकी मुआफ़ी भी मुंह पर तमाचा होती थी।

मैं उससे कतराने लगा था।

उस दिन सुरक्षा-परिषद् में कश्मीर पर बहस हुई थी। कृष्णा मेनन लगातार आठ घंटे बोलकर बेहोश हो गये थे। डेलीगेट्स लाउंज में इसी नाटक की चर्चा थी।

यूसुफ़ सामने से आ रहा था। मुझे आशंका हुई, आज अवश्य इससे कुछ अप्रिय कहा-सुनी हो जायेगी। वहां से हट जाना ही श्रेयस्कर होगा। जैसे ही मैं मुड़ा, उसने घेर लिया। बांह पकड़कर बोला :

'आओ, चाय पियें।'

हम एक कोने में बैठ गये। बात छेड़ने में, मैं उसके पहल करने की प्रतीक्षा कर रहा था।

'गोपालदास, आज तुम मुझसे ख़फ़ा नहीं होगे। बात मैं उसी बुड्ढे की करूंगा, वह बड़ा घाघ था, लेकिन जो वाक़िया मैं तुम्हें सुनाने जा रहा हूं, वह बिलकुल सच है। मेरे वालिद ने एक चश्मदीद गवाह से सुना था। सुनकर उनके मुंह से बेसाख़्ता एक ही लफ़्ज़ निकला था, आफ़रीं! उस बुड्ढे की जितनी दाद दी जाये, कम है।'

घटना इस प्रकार थी :

रियासत में जन-आंदोलन चल रहा था। उसने उग्र और हिंसक मोड़ ले लिया था। कई बार गोली चल चुकी थी। कितने हताहत हुए, कोई नहीं जानता था। अटकलें लगायी जा रही थीं।

गांधी जी वहां आये। उन्होंने महाराज से मिलने की इच्छा व्यक्त की। महाराज गांधी जी के कोई विशेष भक्त थे न प्रेमी, लेकिन उनके सिंहासन पर बनी थी। डूबता क्या न करता! सोचा, सहारा मिल जायेगा। राज़ी हो गये।

गांधी जी महल पहुचे। महाराज अगवानी को द्वार पर खड़े थे। महारानी साथ थीं। सम्मान से भीतर ले गये। गांधी जी ने आसन ग्रहण किया। राज-दपति सामने बैठे, विनीत मुद्रा मे।

बातचीत आरभ हुई।

गांधी जी ने पीने को पानी मांगा। महारानी स्वयं दौड़ी गयी और चांदी के गिलास में पानी लायीं।

गांधी जी ने गिलास उठाया लेकिन होठ से नही लगाया, हाथ मे लिये रहे। वह पानी मे कुछ देख रहे थे। देखते रहे। उनकी आकृति गभीर हो गयी। उन्होंने गिलास एक ओर रख दिया। बोले कुछ नहो।

महाराज विस्मित थे, क्या हुआ ?

बड़ी चेष्टा करके मुंह से इतना निकला, 'महात्मा जी···'

'महाराज, मैं यह पानी नही पी सकता। इसमें लहू का रंग नजर आ रहा है।'

'लहू का !'

'आप मेरी नज़र से देखिए।' उन्होने गिलास उठा लिया। 'इसमें राज के निहत्थे, निर्दोष लोगो के लहू का रंग है।'

एक निस्तब्धता छा गयी।

बातचीत बंद हो गयी।

गांधी जी उठे, विदा मांगी और चले आये।

'आफरीं, आफ़रीं, क्या बात थी तुम्हारे उस बुड्ढे की !'

पहली बार यूसुफ़ ने गांधी जी के लिए कोई अपशब्द नही कहा था।

वे आंखें

वे किसकी आखें थी,

वे किसकी आखें हैं ?

यह मैंने तब जाना न अब जानता हूं ।

मैंने जब देखा, उन आखो ही को देखा, आकृति कभी नही । न आकृति की छाया, न कोई और आभास या संकेत। स्त्री या पुरुष, कुछ नही ।

और उन्हे जब देखा, दीवार मे जड़े हुए, अपनी ओर देखते हुए देखा ।

मैंने उन्हे कभी जाग्रत् अवस्था मे नही देखा । सदा सोते हुए, सपनो मे, और ऐसे समय जब जीवन मे कोई-न-कोई सकट था।

उनके साथ मन मे जो भाव जुड़े हुए हैं, वे हैं :

भय, आश्वासन और आश्चर्य के।

सब एकसाथ नही, हर एक, अपने अलग-अलग संदर्भ मे ।

अजमेर, जनवरी, 1943 ।

मैं दो महीने से बीमार था । तेज ज्वर था, जो टूटता ही नही था । डॉक्टर सब परीक्षण कर चुके थे। सही निदान नही हो पाया था। शरीर ठठरी भर रह गया था । दुर्बल इतना कि स्वय करवट नही ले सकता था । सिविल सर्जन, कर्नल खारेगाट का इलाज था । पिता जी के मित्र थे । वह हार मान गये थे ।

उस दिन उन्होने पिता जी से कहा था :

'शिवचरणदास, मैं तुम्हे धोखे मे नही रखना चाहता हूं । मैं तुम्हारे बेटे को ठीक नही कर सकता। मैं आज तक यही नही जान पाया हू कि रोग क्या है। अटकल से इलाज हो रहा है । तुम चाहो, किसी और डॉक्टर को बुला लो । मेरी सलाह है, तुम इन्हें लेकर दिल्ली या बम्बई चले जाओ। वहां कोई विशेषज्ञ रोग समझ सके तो समझ सके ।'

पिता जी और रानी स्तंभित रह गये थे। मैं ऐसी स्थिति में नही था कि घर से बाहर ले जाया जा सकूं। अजमेर से बाहर जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था।

उस रात पहली बार मैंने उन आंखो को देखा था।

मैं सोया हो था। मैंने देखा :

कमरे मे अंधेरा है। जिस दिशा मे मेरा सिरहाना है, उसकी दायी दीवार पर दो आंखें उभरती हैं और टकटकी बांधकर मुझे देखने लगती हैं, और देखे जाती हैं। वे सामान्य आंखो से बड़ी हैं। उनमें क्रोध है न करुणा, वे कठोर हैं न कोमल। मैं उनमें कोई भाव नही पढ़ पाता हू। मैं कसमसाता हूं। न जाने कहां से मुझमें शक्ति आ जाती है, मैं पलग छोड़कर उठ खड़ा होता हूं। कमरे मे टहलने लगता हूं। आखें मुझ पर जमी रहती हैं—एकटक, एकटक। मैं आतंकित हो उठता हू। मेरे मुंह से चीख निकल जाती है।

उस दुर्बल, रोगी अवस्था मे वह चीख़ एक गहरी कराहट के रूप में रानी को सुनायी पड़ती है। वह हड़बड़ाकर उठती हैं।

'क्या बात है ? क्या हुआ ?'

माता जी—रानी की मां—कहती हैं, 'कोई ऐसा-वैसा सपना देख लिया होगा।'

मैं बिस्तरे मे अव्यक्त पड़ा रहता हूं।

पिता जी के एक और पुराने मित्र थे, हकीम सग़ीर हुसैन। वह दूसरे-तीसरे आते, मेरा हाल पूछते, कुछ देर बैठते, इधर-उधर की बातें करते, कभी-कभी दबी जबान कहते : 'मियां, साहबजादे का इलाज ग़लत हो रहा है। यह मोतीझरा है न मलेरिया। बीमारी इनके मेदे मे है।'

उनकी बात अनसुनी रह जाती। वह मायूसी से सिर हिलाते और चले जाते। अब सिविल सर्जन ने जवाब दे दिया था।

अगले दिन सग़ीर हुसैन आये। उन्होने सुना। इस बार कुछ अधिक आग्रह से कहा :

'मियां, मैं बराबर कहता रहा हूं कि साहबजादे का इलाज ग़लत हो रहा है। अब पानी सिर तक आ गया है। और देर करेंगे तो हालत बेकाबू हो जायेगी। मैं आगाह किये दे रहा हूं। आगे आप जानें।'

पिता जी ने रानी से पूछा :

'क्या कहती हो, बहू ? ऐसी हालत में डाक्टरी से हकीमी इलाज बदलने में जोखिम तो जरूर है, लेकिन खारेगाट कह गया है, उसके बस का नहीं है।'

रानी क्या कहती ?

'मैं बहू हूं तो आप बाप हैं। मेरा और आपका, दोनों का हित-अहित इनके साथ जुड़ा है। जो आप ठीक समझें, वह करें। मेरे लिए भी वही ठीक होगा।'

और हकीम साहब का इलाज शुरू हो गया।

उस रात नींद में, वही दो आंखें, उसी दीवार के उसी स्थान पर, वैसे ही टकटकी बांधे मुझे देखते हुए, फिर उभरीं। अंतर केवल इतना था कि उस दृष्टि में कहीं एक सूक्ष्म संकेत था, स्निग्धता का। तचे तन पर चांदनी का परस हो, ऐसा।

आतंक का स्थान आश्वासन ने ले लिया।

और फिर दूसरी रात, तीसरी रात और चौथी रात, यही हुआ।

वही आंखें, वही स्थान, वही भाव।

पांचवें दिन ज्वर टूट गया।

इसके बाद एक लंबा अंतराल, इक्तीस बरस का।

अतीत पर बीतते बरसों की परतें जमती गयी थीं। दूर होते-होते वह घटना प्रायः विस्मृत हो गयी थी।

रानी अस्वस्थ हो जाती हैं। उन्हें अस्पताल में भरती करना पड़ता है। घर आती हैं तो सुधार की गति ऐसी कि जैसे कोई एक सीढ़ी चढ़े और दो उतरे। मैं सेवा-निवृत्त हो चुका [redacted]। मेरे पास एक पुराने परिचित, मनचीते नये काम का प्रस्ताव लेकर आते हैं। मैं निर्णय नहीं कर पाता हूं कि स्वीकार करूं, न करूं। रानी को रोज, आठ घंटे के लिए, घर में अकेला छोड़ने में खतरा है। कभी एकाएक तबियत खराब हो जाये और मैं पास न होऊं, तो ? इसके विपरीत, काम अस्वीकार करने में रानी पर हानिकर प्रतिक्रिया की आशंका है। वह अपने को दोषी मानकर कोसें-कलपेंगी।

दुविधा क्या थी, कुएं और खाई का विकल्प था।

नींद बड़ी उचाट थी। आंख झपकती और खुल जाती—कभी सपने से, कभी आहट से, कभी पास सो रही रानी की कराहट से। मन उद्विग्न था। समस्या का हल नहीं सूझ रहा था। देर रात गये गहरी आंख लगी। मैंने देखा :

वही पुरानी, भूली-बिसरी आंखें एक बार फिर, दीवार में जड़ी, मुझे निहार रही हैं, पहले की तरह जमी दृष्टि से। मुझे आश्चर्य होता है। ये क्यों प्रकट हुई हैं ? मैं उनमें टटोलता हूं—कहीं, कोई भाव नहीं है। अपलक मुझे देखे जा रही हैं। कुछ क्षण बीत जाते हैं, मुझे लगता है, मेरा शरीर तप रहा है।

आंख खुल जाती है।

'अरे राम' कहते हुए रानी करवट लेती हैं।
मैं नये काम के लिए हामी भर देता हूं।

उसके बाद मैंने उन आंखों को नही देखा है।
आगे देखूंगा या नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है!

वे किसकी आंखें थी,
वे किसकी आंखें हैं ?
क्या कहीं कोई, अदृश्य, हमारे साथ होता है जो सदा देखता रहता है ?
देख-रेख करता रहता है ?
शायद रक्षक भी होता है।
सहज ही विश्वास नही होता। कैसे हो ?
किंतु क्या मैं अविश्वास कर सकता हूं ? कैसे करूं ?

एक विधवा सोहागिन

सब अचभे मे थे।

उस वैष्णव, साध्वी बगाली वृद्धा ने पति के ब्रह्मभूत होने पर अपनी चूड़ियां ठडी करवाने और अपने केश देने से इनकार कर दिया था। इतना ही नही, उसने मांग मे सिंदूर भरने का भी आग्रह किया था, और भरा था। जब पुत्रो और अन्य स्वजनो ने इस पर क्षोभ प्रकट किया तो उसने विनती की थी कि वे तेरही होने तक रुक जायें। उसके स्वर मे इतनी दीनता थी कि न चाहते हुए भी, वे अमान्य नही कर सके थे।

मैं उस परिवार के पड़ोस में रहता था।

एक-एक करके दिन बीतते गये।

वह सवेरे से शाम तक घर के काम मे, या पूजाघर मे कृष्ण की प्रतिमा के सामने ध्यान में, लीन रहती। प्राय मौन किंतु, कम-से-कम ऊपरी तौर पर, सहज और सामान्य।

तेरही के दिन घर के सगे-सबंधी, ब्राह्मण-भोज कराके, शुद्ध हो चुके थे। रात का पहला पहर था। मैं और रानी अभी सोये नही थे। सहसा पडोस के मकान से एक आर्तनाद रात की नीरवता को भेद गया। छोटे पुत्र ने पुकारा—'मा, मां!' और फिर, अनेक परतों मे, उसकी पुकार की अनुगूज से घर भर गया।

दिन भर काम करके वृद्धा अपने बिस्तरे पर लेटी थी। एक बार, तनिक ऊचे स्वर में, उसने अपने इष्ट देव का स्मरण किया था। पास मे सो रहा छोटा पुत्र हडबडाकर उठा था, किंतु कोई इलाज-उपचार हो सके उससे पहले वह ब्रह्म मे समाविष्ट हो चुकी थी।

अगले दिन जब उसकी अर्थी उठी तो उसके हाथो मे चूड़ियां थी, सिर पर केश और मांग मे सिंदूर।

एक गांधी-भक्त

उस अमरीकी नीग्रो को मैंने हताश किया। मैं कर भी क्या सकता था ?

मैंने उसका नाम नही जाना। अवसर कहां था ? उसका चेहरा भी याद नही है। किंतु ऐसी घटनाएं कभी विस्मृत नही होती हैं।

तब तक मैं इतना जानता था कि मार्टिन लूथर किंग गांधी-भक्त हैं। उस दिन जाना कि गांधी के प्रति नीग्रो-समाज मे कितनी श्रद्धा है।

तब तक न्यूयॉर्क का वह अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा आइडिलवाइल्ड कहलाता था। आज वह जॉन कैनेडी के नाम से शोभित है। 1955 के नवंबर महीने का अंतिम दिन था। हम—मैं, पत्नी और तीनो बेटियां—सवेरे की उड़ान से वहां पहुचे थे। कस्टम्सवालो ने हमें रोक रखा था। मेरे पास च्यवनप्राश के चार डिब्बे थे। मैं उन्हें समझाने की कोशिश कर रहा था कि वह कोई खाद्य-पदार्थ नही है, औषधि है। वे मानने को तैयार नही थे। बहस बहुत चल चुकी थी। हारकर मैंने कहा था :

'यदि आपको विश्वास नही होता तो उसे रोक लीजिए, फेंक दीजिए, जो चाहे कीजिए, हमे छुट्टी दीजिए। हां, यह मैं अंत तक कहता रहूंगा कि यह औषधि है, औषधि है।'

वहां एक लंब-तड़ंग नीग्रो पोर्टर खड़ा था। उसकी आंखें मेरे हाथ मे पकड़ी हुई गांधी जी की मूर्ति पर जमी हुई थी। मूर्ति प्लास्टर की बनी हुई है। गांधी जी के दाहिने हाथ मे लाठी है और वह चलने की मुद्रा मे हैं। बहुत ही सुदर सांचे मे ढली हुई मूर्ति है।

नीग्रो ने कस्टम्स अधिकारी के कान मे कुछ कहा। उसने सहमति में सिर हिलाया। हमे च्यवनप्राश ले जाने की अनुमति दे दी। नीग्रो ने हमारा सामान ट्रौली पर लादा, बाहर लाया, टैक्सी बुलायी और सामान उसमे चढ़ा दिया।

बटुए में से एक डॉलर निकालकर मैं उसे चुकाने लगा। उसने इनकार कर दिया। मैंने पूछा, 'क्यों?'

मूर्ति की ओर इंगित करके वह बोला, 'गांधी है न?'

'हां।'

'वह मुझे दे दो। मुझे पैसे नहीं चाहिए।'

वह मूर्ति बेटी चित्रा को मैंने उसके जन्मदिन पर उपहार में दी थी। सारा परिवार उससे जुड़ा हुआ है। यहां तक कि चित्रा अब इग्लैंड में रहती है किंतु मूर्ति मेरे पास ही है। दिल्ली से न्यूयॉर्क तक मैं और पत्नी उसे बारी-बारी अपने हाथ में लाये थे, कहीं क्षतिग्रस्त न हो जाये। वह मैं उसे कैसे दे सकता था?

मैंने उसे समझाया। वह उदास हो गया। मैंने डॉलर आगे बढ़ाया। उसने हाथ खींच लिया। मैंने उसकी जेब में डाल दिया। उसने मूर्ति का स्पर्श किया, उसे दुलारा।

हमने टैक्सी में बैठकर उससे विदा कही। उसका हाथ यंत्रवत् उठा। अस्फुट स्वर में कुछ बुदबुदाया। टैक्सी चल दी। वह हमें देखता रहा।

मोड़ पर वह आंखों से ओझल हो गया। तब से उसकी स्मृति मन में बनी हुई है।

'जब तोप मुक़ाबिल हो तो'

अक़बर इलाहाबादी का एक शेर है :

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो,
जब तोप मुक़ाबिल हो, तो अख़बार निकालो।'

अकबर को यह शेर कहे आधी से अधिक सदी बीत गयी। इस बीच क्या-क्या न हो गया। युग के साथ संदर्भ भी बदल गया। नयी समस्याएं आयीं, उनका सामना करने के लिए नये उपाय आये। कभी तोप के जवाब मे अख़बार की कल्पना की गयी थी, आज अख़बार निकालना कसाले का काम हो गया है। पैसा इतना चाहिए कि कोई पूंजीपति ही लगा सकता है, उस पर चौबीस घंटे का झंझट। तनाव, दबाव और धमकी—अपनों से और बिरानों से। और फिर, मियां अकबर के ज़माने में उससे आसान लेकिन अधिक कारगर वह विकल्प कहां था जो आज थोक मे सुलभ है।

विकल्प है—
कमेटी, और
मीटिंग।

कुछ करना हो या करना चाहें तो करिये, नहीं तो बस—कमेटी बैठा दीजिए। कमेटी क्या करेगी? मीटिंग बुलायेगी, और मीटिंग बुलायेगी, और और मीटिंग, और यह क्रम अटूट बना रहेगा।

आपको एक राज की बात बताऊं? बहुत-सी कमेटियों का उद्देश्य अक्सर वह करना नहीं होता है जिसके लिए वे बैठाई जाती हैं, बल्कि वह न करने के लिए एक पराया कंधा ढूंढना होता है, शिखंडी का।

मनुष्य-जाति की सृष्टि मे पहले आदि पुरुष था। क्षमा कीजिए, अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के बाद स्त्रियां बहुत जागरूक हो गयी हैं। कोई यह आपत्ति न कर बैठे, पहले आदि स्त्री क्यों नही हुई? ख़ैर, जो भी है, पहले आदि पुरुष हुआ, फिर उसकी संतान हुई। और आज जो स्थिति है, सब जानते हैं। कमेटी अभी तीसरी

पीढ़ी पर ही है। कमेटी, स्पेशल कमेटी, सब-कमेटी। कुछ ममेरी, चचेरी, मौसेरी बहनें हैं—एड होक कमेटी, स्टैंडिंग कमेटी, रिसैप्शन कमेटी। रिसैप्शन कमेटी की पैरोडी तो आपने सुनी होगी? डिसैप्शन कमेटी! मेरा कहना है, अभी से इन कमेटियों के नियोजन की आवश्यकता है। धन्य हों रेडियो और दूरदर्शन, जिन्होंने हमें जी मिचलाने की सीमा तक सचेत कर दिया है कि आबादी का विस्फोट आज के युग की सबसे भयानक समस्या है।

कुछ लोगों के लिए कमेटी की सदस्यता मान-सम्मान की प्रतीक होती है। अंग्रेजी में कहा जाता है—स्टेट्स सिम्बल। आप जितनी कमेटियों के सदस्य हैं, उतने ही महत्वपूर्ण, यानी विशिष्ट व्यक्ति हैं।

मेरे एक बचपन के मित्र हैं। नाम बताऊंगा न, अता-पता। आपके मनोरंजन के लिए मैं अपनी बरसों की मित्रता दफनाने को तैयार नहीं हूं। वह कितनी कमेटियों के सदस्य हैं, यह उन्हें स्वयं याद नहीं है। बस, सूची छपी रहती है, जिसमें महीने-दो महीने के बाद संशोधन, संवर्द्धन करना होता है। रामायण की सुरसा की तरह, सदस्यता की संख्या बढ़ती जाती है। आप पूछेंगे, वह इन सबका निर्वाह कैसे करते हैं? क्या उन्हें और कोई काम नहीं है? काम कैसे नहीं है? है, और खूब है। न जाने कितने निगमों के अध्यक्ष हैं, डायरेक्टर हैं, परामर्शदाता हैं। होता यह है, जब किसी कमेटी की मीटिंग होती है, वह देर से पहुंचते हैं। थोड़ी देर इधर-उधर मीठी मुसकान बिखेरते हैं और फिर, मौक़ा निकालकर, अध्यक्ष महोदय से कहते हैं :

'श्रीमान, मेरा अनुरोध है कि आप कार्य-सूची के अमुक विषय को विचार के लिए ले लें क्योंकि मुझे एक और कमेटी की मीटिंग में जाना है।'

अनुरोध मान लिया जाता है, विशिष्ट व्यक्ति जो ठहरे। थोड़ी देर अपने चुने हुए विषय पर दो-चार बात कहकर वह समाप्त करते हैं, झुककर एक बार फिर मीठी मुसकान बिखेरते हैं, और विदा लेते हैं। वह दूसरी मीटिंग में जाते हैं और वहां यही क्रम दोहराया जाता है।

एक अंग्रेज विचारक ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि जिस संख्या में दफ्तर के कर्मचारियों की वृद्धि होती है, उसी अनुपात में काम बढ़ जाता है। इसी के जोड़ की बात है कि दफ्तर जितना नया काम उठाते हैं, उतनी ही कमेटियों की बेल फैलती है। कई बरस हुए, सरकार को लगा था कि कमेटियों की संख्या में काट-छांट करनी चाहिए। कुछ छटनी हो गयी। लोग—इन कमेटियों के लोग—बड़े दुखी हुए। आवाज़ उठी :

'सरकार को क्या हो गया है? पछतायेगी। हमारे योगदान को सराहना तो दूर रहा, वह हमसे कौन से जनम का बदला चुका रही है?'

मुझे सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किये काफी अरसा हो गया लेकिन ऐसा लगता है कि ये कमेटियां, रावण के सिर के समान हैं। एक काटिये, दूसरा उग आता है।

मैंने शुरू मे एक बात कही थी जिसे सुनकर आप शायद चौंके होंगे, कि अक्सर कमेटियो का उद्देश्य वह करना नही होता है जिसके लिए वे गठित की जाती हैं। मेरा निजी अनुभव है। मुझे दो कमेटियो की सदस्यता के लिए आमन्त्रित किया गया। विषय मे मुझे रुचि थी। मैंने सहर्ष, तुरत अपनी स्वीकृति दे दी। सयोजक महोदय ने टेलिफ़ोन किया, कृतज्ञता प्रकट की। कहा, शीघ्र ही बैठक बुलाएंगे। मैं ठोस काम करना चाहता था आवश्यक सामग्री जुटाना शुरू कर दिया। दिन, हफ़्ते, महीने बीत गये। होते-होते साल पूरा हो गया। कही सयोजक महोदय से भेंट हो गयी। मैंने पूछा :

'क्यों भाई, क्या हुआ उस कमेटी की बैठक का ? कब बुला रहे हो ? तब तो बड़ी जल्दी मे थे !'

वह कुछ झेंपे, फिर संभलकर बोले :

'कमेटी की अवधि साल भर की थी। साल पूरा हो गया। अब उसका फिर से गठन किया जा रहा है। आप निश्चित रहें, आपका मुझे ध्यान है। एक और कमेटी मे आपको रख रहे हैं।'

अवधि पूरी हो गयी बिना बैठक के, और, एक और कमेटी मे मुझे रख रहे हैं जैसे ग़रजमंद मैं था, वह नही।

यही नियति है।

कई कमेटियां होती हैं जिनका बड़े अनुकूल नक्षत्र में जन्म होता है। लंबी आयु पाती हैं, सदस्यो के सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था होती है, परिणाम की किसी को जल्दी नही होती। कहना तो यह चाहता था, परिणाम की किसी को चिंता नही होती, लेकिन कभी-कभी सही बात को भी अतिशयोक्ति माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में ऐसी कमेटियां खूब फलती-फूलती हैं। एक ऐसी ही कमेटी बरसो से 'एग्रैशन'—अतिक्रमण—की परिभाषा मे लगी हुई है। इस बीच अनेक देशो की सीमा का अतिक्रमण हो चुका है, भारत को यह कई बार भुगतना पड़ा है, लेकिन परिभाषा अभी पूरी नही हुई है। शायद इसीलिए सयुक्त राष्ट्र मे किसी देश को अतिक्रमण का दोषी ठहराना आसान नही होता है।

ऐसी ही एक और संस्था है जो बरसों की बहस के बाद आज तक यह निश्चित नही कर पायी है कि समुद्र मे किसी देश की सीमा, तट से कितनी दूर तक होती है। ये कमेटियां, जिसे कहते हैं, काले कौवे खाकर रहती हैं। कौवे की

उम्र बड़ी होती है और उसे वश में करना आसान नही होता है।

कमेटी और मीटिंग जैसे सगी बहनें हैं। दोनों के गुण और लक्षण में ख़ास अंतर नही होता है, और उद्देश्य भी प्रायः एक-सा होता है। काम कम, दिखावा ज्यादा। कभी उनकी ओट में काम से बचाव, कभी उनके सहारे कुछ मनोरंजन, कुछ आराम की व्यवस्था। कमेटियों की तुलना में इन मीटिंगों के नियोजन की और भी अधिक आवश्यकता है। जब देखिए, जहां देखिए—मीटिंग, मीटिंग, मीटिंग। कुछ साल हुए जब 'जय जवान, जय किसान' की आवाज़ बुलंद हुई थी, प्रतीक-स्वरूप एक सराहनीय क़दम उठाया गया था। सप्ताह में एक दिन मीटिंग पर पाबंदी लगा दी गयी थी। वह बात आयी-गयी हुई। लोग उसे भूल चुके हैं। बात को ही क्या, लोग उसे सीधे, सरल व्यक्ति को भी, जिसने यह आवाज़ उठायी थी, भूल चुके हैं।

मेरे एक मित्र थे। आप कहेंगे, यह क्यों आज मित्रों के पीछे पड़े हुए हैं? नही साहब, मैं उनका बहुत आदर करता था। बड़े गुणी हैं। मैं तो केवल बात की बात कह रहा हूं। और, अपना और अपने मित्रों का उदाहरण न दूं, तो आप ही बताइए, किसका उदाहरण दूं? वह रोज़ सवेरे मीटिंग करते, धुआंधार मीटिंग, जो दोपहर के खाने तक चलती। उसके बाद दो घंटे आराम करते, थक जो जाते। उस दफ़्तर में क्या काम होता होगा, आप ही सोचिए।

मैंने एक अधिकारी को टेलिफ़ोन किया। पी० ए० ने उत्तर दिया, 'सर मीटिंग में हैं।'

मैंने पूछा, 'कब मिलेंगे?'

'लंच के बाद।'

लंच के बाद टेलिफ़ोन किया।

'सर घर से सीधे मीटिंग मे चले गये।'

'वही मीटिंग या कोई और?'

'शायद यही, पक्का नही कह सकता।'

दूसरे दिन फिर टेलिफ़ोन किया।

'सर मीटिंग मे गये हैं।'

मैं खीज उठा। मैंने कहा, 'देखिए, मुझे कोई सरकारी काम नही है। मैं उनका पुराना परिचित हूं। मित्र कह लीजिए। उन्हें मेरी तलाश थी। कह दीजिएगा, मैंने टेलिफोन किया था। मेरा नाम कह देना काफी होगा।'

न जाने क्या हुआ, पी० ए० बोले, 'जरा ठहरिए। मैं देखता हूं। मीटिंग में जानेवाले थे। शायद अभी कमरे मे ही हों।'

वह कमरे में ही थे।

मीटिंग कहां हो, उसकी क्या कार्यसूची हो, यह भी एक रोचक अध्ययन है। आज हवा बदली हुई है, लोग पुराने तरीके छोड़ रहे हैं। वे जानते हैं, उन पर जो दायित्व है उसका वह कैसा निर्वाह करते हैं, यह आका जा रहा है। पहले साधारण बात थी, 'क्यों साहब, अगली मीटिंग शिमले में क्यों न रख ली जाये? दिल्ली में गरमी बहुत है, तवे पर रोटी की तरह सिके जा रहे हैं। कुछ राहत मिलेगी। हां, एक सप्ताह तो हो ही सकती है।'

सरदी के दिन हुए तो पहाड़ के स्थान पर दक्षिण में कही हो सकती है। जैसे हैदराबाद। जगह भी अच्छी है और कुछ दिन ठिठुरन से भी बचेंगे।

एक साहब ने सुझाव दिया, 'देखना, दिन में दो बैठक न हों। एक बहुत होगी, सवेरे हो या दोपहर।'

दूसरे ने जोड़ा, 'और हां, कार्यसूची हल्की हो। यह न हो कि सारे दिन कोल्हू के बैल की तरह पानी मे पिले रहें। विषयो की सख्या अवश्य अधिक हो सकती है, लेकिन जटिल या पेचीदा न हो जिससे दिमाग़ पर ज़ोर पड़े।'

ठीक बात है, काम का पलड़ा मनोरजन से भारी नही होना चाहिए।

ऐसी ही एक मीटिंग के लिए मैं नैनीताल गया। चार दिन की अवधि निश्चित थी। अध्यक्ष एक अति विशिष्ट व्यक्ति थे। वी० वी० आइ० पी०। हमेशा इतर-फुलेल मे बसे रहते थे। वह कुछ ज्यादा ही उदारमना निकले। बोले :

'आपको क्या कहना है? और आपको? दो मिनट मे बात पूरी करनी है। देखिए, आप मामले को बेकार तूल दे रहे हैं। मुझे यह पसंद नही है।'

दूसरे दिन कार्यसूची पूरी हो गयी। उन्होने मीटिंग समाप्ति की घोषणा कर दी।

एक भोले साथी ने पूछा, 'श्रीमान, बाक़ी दो दिन क्या करें?'

उन्होने उत्तर मुह से नही, दृष्टि से दिया।

कितना तिरस्कार था उसमे!

कभी-कभी ऐसी मीटिंग, जिनके आयोजन पर हजारों रुपये खर्च होते हैं, बहुत छोटी बातों में उलझ जाती है, कानून की लकीर पीटने। एक पुरानी कहानी है, किसी साहब का एक छोटा सिक्का गिरकर अलमारी के नीचे चला गया। उन्होंने झुककर तलाश किया। अंधेरा था, नजर नही आया। पास एक रईस खड़े थे, पैसे और दिल दोनो के, अक़्ल के नहीं। उन्होने बटुए से एक दस रुपये का नोट निकाला, उसे माचिस दिखाई और कहा, 'लो, इस रोशनी मे अपना सिक्का ढूंढ लो।'

पारकिन्सन का नाम आपने सुना होगा। अंग्रेजी व्यवस्था के थोथेपन को उसने सबसे अधिक उघाड़ा है। अपनी पुस्तक 'पारकिन्सन्स ला' में उसने इस तरह की एक मीटिंग का वर्णन किया है।

वरिष्ठ अधिकारियों की मीटिंग हो रही है। अध्यक्ष कहते हैं :

'विषय संख्या दस, ज्वाइंट वैलफेयर कमेटी की मीटिंग में दिये जानेवाले चायपान की रक़म की मंजूरी। तीस रुपया माहवार।'

एक अधिकारी प्रश्न करते हैं, 'इन अवसरों पर क्या दिया जाता है ?'

'कॉफ़ी, और क्या ?'

'तो इस मद में सालाना ख़र्चा हुआ 360 रुपया। ठीक ?'

'हां।'

'अध्यक्ष महोदय, मैं कहता हूं, इतना ख़र्चा कैसे उचित माना जा सकता है ? ये मीटिंग कितनी देर चलती हैं ?'

इस विषय को लेकर घंटों कड़वी बहस होती है। कुछ तय नहीं होता। अंत में सचिव से कहा जाता है कि इस मामले पर और आवश्यक जानकारी जमा की जाये और बोर्ड की अगली मीटिंग के सामने लायी जाये ताकि सही निर्णय लिया जा सके।

एक कार्टून है :

अध्यक्ष महोदय कह रहे हैं—'इस मीटिंग में हमें यह निर्णय लेना है कि अगली मीटिंग मे क्या निर्णय लिया जाये।'

गुसाईं जी के शब्दों मे इन कमेटियों और मीटिंगों के बारे मे हम कह सकते हैं :

'हरिकथा अनंता।'

समाप्त करने से पहले एक और निजी अनुभव सुनाने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूं।

दो दशक से *अधिक पहले की बात है। अंग्रेजों और फ्रांसिसियों ने,* इज़राइलियों के साथ मिलकर मिस्र पर हमला किया था। गंभीर स्थिति थी। पिछली शाम से संयुक्त राष्ट्र महासभा की बैठक चल रही थी। रात का तीसरा पहर था। एक डैलिगेट ने मंच पर आकर कहा :

'जब तक इस मसले पर कोई फ़ैसला नहीं हो जाता, मेरा सुझाव है कि यह बैठक चलती रहे।'

बहुमत ने इसका समर्थन किया। इतने मे एक दबी, सहमी आवाज़ आयी :

'क्या हमें नित-कर्म के लिए भी समय नही दिया जायेगा ? यह कैसे हो सकता है ?'

सभा-भवन ठहाकों से भर गया। कुछ देर के लिए गंभीर वातावरण विच्छिन्न हो गया।

एक झिक
और उसके बाद

एक अभेद्य दीवार सामने थी :

झिक की।

हर प्रश्न का एक ही उत्तर था :

'मेरी झिक है।'

हर बात उसी पर आकर टूटती थी।

वह झिक मुझ पगु के लिए 'गिरिवर गहन' बन गयी थी। फिर भी, 'जासु कृपा' से अनहोनी हुई।

अतीत के उस चलचित्र का 'उज्ज्वल आधार' स्वयं महादेवी जी हैं। 'स्मृति की सुरक्षित सीमा' से बाहर लाकर आज उसे उकेरने का मात्र उद्देश्य सुख के कुछ बीते क्षणो को शब्दो मे बांध रखने का लोभ है।

मई, 1953 मे मैंने आकाशवाणी इलाहाबाद का कार्यभार संभाला था। कुछ दिन बाद मैंने प्रस्ताव किया कि 'अतीत के चलचित्र' से कुछ प्रसग चुनकर उन्हे नाट्य-रूप मे रेडियो से प्रस्तुत किया जाये। सहकर्मियो मे उत्साह का अभाव पाया। ऐसा आभास हुआ जैसे कि वे सोचते हैं, नया मुल्ला अल्लाह-अल्लाह पुकार रहा है। ठिकाने आ जायेगा। मैंने उन्हे ग़लत समझा था। महादेवी जी रेडियो से ब्रॉड-कास्ट नही करती थी।

कुछ लोग होते हैं जो चुनौती के आह्वान से मचल उठते हैं।

उस पर्वतारोही ने, पूछे जाने पर कि वह क्यो एवरेस्ट शिखर पर चढ़ना चाहता है, यही तो कहा था :

'क्योंकि वह यहां है।'

मैं महादेवी जी से मिलने गया। कहा, उनके नगर में नया-नया आया हूं, आशीर्वाद की अपेक्षा है। उनके सहज स्नेह और सौहार्द से मन को बढ़ावा मिला। उस मीठे वातावरण में प्रसारण की चर्चा करना असंगत लगा। मैं चला आया।

फिर गया। बात उठायी।

'हम आपकी पुस्तक से कुछ चलचित्र नाट्य-रूप में प्रस्तुत करने की अनुमति चाहते हैं। यदि आप स्वयं, अपनी आवाज़ में, पात्रों के परिचय-स्वरूप कुछ कह सकें, तो प्रसारण को चार चांद लग जायेंगे।'

'आप जानते हैं, मैं रेडियो नहीं जाती हूं।'

'जी हां, लेकिन क्यों ?'

'अब मैं क्या बताऊं ?'

'फिर भी।'

'बस समझ लीजिए, मेरी झिक है।'

'कभी किसी रेडियोवाले से जाने-अनजाने कोई अशोभन बात हो गयी हो ?'

'नहीं।'

'कोई सिद्धांत की बात हो ?'

'नहीं।'

'कोई कारण तो अवश्य होगा।'

'आपसे कह दिया न, केवल झिक है। झिक का कोई कारण नहीं होता है। वह क्यों, क्या, कैसे की कसौटी पर नहीं आंकी जाती है।'

'किंतु क्या आप मानती हैं कि झिक दूर नहीं हो सकती, उसका कोई उपचार नहीं है ? वह कोई स्थायी वस्तु है ?'

कुछ सोचकर बोलीं, 'नहीं, ऐसा तो नहीं है। लेकिन बात वर्तमान की हो रही है। इस समय जो है सो है। झिक है।'

'आपकी झिक सिर आंखों पर, किंतु मेरा इतना निवेदन है कि यदि इस मामले में आप झिक से हटकर सोच सकें, और उसके बाद जिस निर्णय पर पहुंचें, वह हमें मान्य होगा। मैं दो-चार दिन बाद आऊंगा।'

मैं फिर गया।

'मैं रेडियो नहीं आऊंगी।'

'और।'

'मैं अनुबंध-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करूंगी।'

'और।'

'इसे मेरी झिक मानिए या जो कहिए। न आपको ये शर्तें मान्य होंगी, न प्रसारण होगा।'

उन दिनों आज जैसी रेकॉर्डिंग की सुविधाएं नही थीं। आज तो टेपरेकॉर्डर उठाया, गले में लटकाया या झोले में डाला और चल दिये। तब, स्टुडियो से बाहर रेकॉर्डिंग के लिए भारी साज-सामान ढोना पड़ता था। रेडियो के नियमों मे उदारता नही थी। अनुबंध-पत्र अनिवार्य था। महादेवी जी की शर्तें अलंघ्य लगती थीं। किंतु मैंने हार मानने के लिए बीड़ा नही उठाया था।

'और अगर ये शर्तें हम मान लें तो?'

'कैसे?'

'रेकॉर्डिंग की व्यवस्था यहां आपके घर पर कर दी जाये।'

'और अनुबंध-पत्र?'

'कोई अनुबंध-पत्र नही होगा।'

'लेकिन मैंने सुना है, आकाशवाणी से बिना अनुबंध-पत्र के कोई प्रसारण नहीं होता है, नही हो सकता है।'

'उसकी जवाबदेही का दायित्व मेरा होगा।'

'अच्छा?'

'आप पात्र-परिचय तैयार करें। जब आपको सुविधा होगी, हम रेकॉर्डिंग के लिए आ जायेंगे।'

निश्चित तिथि और समय पर हम उनके निवास पहुचे। बैठक में माइक्रोफ़ोन जमाया, बाहर बरांडे मे अन्य उपकरण। रेकॉर्डिंग की व्यवस्था टेलिफ़ोन लाइंस द्वारा आकाशवाणी के स्टुडियो मे थी। वह लगभग पांच मिनट बोलीं। उनकी भाषा के माधुर्य और सहज प्रवाह का मैं सदा प्रशंसक रहा हूं। अपने पात्रों के प्रति उनके स्वर मे जो सवेदना थी, जो तादात्म्य था, उससे पुलक की अनुभूति हुई।

रेकॉर्डिंग की समाप्ति पर मैंने आलेख मांगा। उन्होंने पल्लू मे छिपा लिया।

'यह मैं नही दूंगी।'

'क्यों, इसमे क्या है?'

'बस वही, मेरी झिक। मैं इसे नष्ट कर दूगी।'

और देखते-देखते, उन्होंने, वहीं उसकी चिंदी-चिंदी कर दी।

मैंने विरोध किया।

'यह आपने क्या किया? आपकी रेकॉर्डिंग हमारे पास है। उससे आलेख तो हम फिर बना लेंगे। आपके हाथ का लिखा हुआ आलेख, रेकॉर्डिंग के साथ, हमारे लेखागार में सुरक्षित रहता। वह आकाशवाणी की एक अमूल्य निधि होती।

आपने हमे उससे वंचित कर दिया।'

'मैंने आपसे कहा न था, झिक का कारण नही होता। वह क्यों, क्या, कैसे की कसौटी पर नही आंकी जाती है।'

उसी समय मैंने देखा, बाहर के फाटक से, निराला जी प्रवेश कर रहे हैं। नंगे पैर, लुंगी कसे, कंधे पर गमछा डाले, अपने गणो से घिरे हुए।

मैंने धीमे से महादेवी जी से कहा :

'यह अपूर्व सयोग है। आप और निराला जी, दोनो यहां है। आप उन्हें बातों मे लगाए—साहित्य, दर्शन, धर्म, नीति, जिस विषय पर आप चाहे। हम सब रेकॉर्ड कर लेंगे। वह जान भी नही पायेंगे। मैं आश्वासन देता हूं, रेकॉर्डिंग का उपयोग बिना आपकी और उनकी अनुमति के नही होगा। निराला जी की वाणी सदा के लिए सुरक्षित हो जायेगी। ऐसा अवसर फिर नही मिलेगा।'

वह सहमत हो गयी। मैंने अपने इंजीनियर साथी से कहा, वह कट्रोल-रूम को सचेत कर दें। हमसे सकेत पाते ही रेकॉर्डिंग शुरू कर दें और करे जायें जब तक निराला और महादेवी बातचीत करते रहें।'

कमरे मे पैर धरते ही निराला जी बोले, 'क्या हो रहा है?'

महादेवी जी ने अभिवादन किया किंतु प्रश्न का उत्तर नही दिया। निराला जी ने स्थान ग्रहण किया। सामने माइक्रोफ़ोन देखकर बिदक गये।

'यह क्या है? ये लोग कौन हैं?'

'आकाशवाणी के गोपालदास हैं।' 'अतीत के चलचित्र' पर एक कार्यक्रम कर रहे हैं। इनका आग्रह था, मैं अपने पात्रो के परिचयस्वरूप दो शब्द कहूं।'

निराला जी ने मुझे घूरा। यह मेरा-उनका पहला साक्षात्कार था। मैंने उठने की चेष्टा करते हुए हाथ जोड़कर अभिवादन किया। महादेवी जी पर आखें गड़ा-कर उन्होने कहा :

'और तुम मान गयी?'

स्वर मे उपेक्षा की ध्वनि स्पष्ट थी।

'ये लोग यहीं आ गये थे।'

'हूं।'

'आप कैसे हैं?'

महादेवी जी ने बात चलाने का प्रयास किया। इंजीनियर साथी बरांडे से मुझे देख रहे थे। मैंने आख मिचकाई। कट्रोल-रूम को आदेश देने वह टेलिफ़ोन की ओर बढ़े। निराला जी के एक गण ने हमारा मूक सप्रेषण ताड़ लिया। वह लपक-कर मेरे पास आये।

'आपने निराला जी को रेकॉर्ड करने का आदेश दिया है ?'

मैं नकार न सका।

'बिना उनकी अनुमति के यह अनुचित होगा।'

अपना नाम सुनकर निराला जी ठिठके। भृकुटी कमान बन गयी। मुझे तरेर-कर देखा। मन में आशंका हुई। क्या उनकी आंखों में जो जगा था, वह विक्षिप्त का भाव था ? हाथ बढ़ाकर मैंने माइक्रोफ़ोन उठा लिया। वह कुछ आश्वस्त, सहज हुए। फिर सहसा उठ खड़े हुए और वहां से चले गये। पीछे-पीछे उनके गण थे। उनमें से एक के चेहरे पर हमारा प्रयास विफल करने की अपनी विजय की कुटिल मुसकान थी।

महादेवी जी चुप रहीं।

महादेवी जी की रेकॉर्डिंग करने पर बधाई देते हुए, उन दिनों की हिंदी कविता के एक नये घराने के प्रवर्तक आचार्य ने मुझे अंग्रेज़ी में लिखा था :

'यदि तुम निराला जी की रेकॉर्डिंग कर सको तो मैं तुम्हें अपना सिर, एक थाली में रखकर अर्पित करने को तैयार हूं।'

निराला जी चले गये।

उन आचार्य का सिर अभी तक क़ायम है।

जब टंडन जी ने ब्रॉडकास्ट किया

मुझसे कहा गया था, मैं जानबूझकर ओखली में सिर दे रहा हूं।

मेरा उत्तर था, डूबने के डर से किनारे पर वह बैठें जो जोखिम उठाने से अजनबी हो।

मैं पानी मे उतरा और मैंने पाया।

वह पाया जो उससे पहले और उसके बाद किसी ने नही पाया।

यह बात भी मेरे आकाशवाणी इलाहाबाद के कार्यकाल की है।

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन इलाहाबाद मे रहते थे। उन्होने कभी आकाशवाणी से प्रसारण नही किया था। पूर्वाग्रह, उपेक्षा, उदासीनता—कुछ भी कारण रहा हो, दोनों ओर से। आकाशवाणी के लिए अतिरिक्त कारण भी रहा हो—डर। कही वह ऐसा कुछ न कह बैठें कि गरदन नप जाये। मुझे यह स्थिति अखरी। मैंने तय किया, जैसे भी हो, टंडन जी को प्रसारण के लिए आमंत्रित किया जाये।

मैं अवसर की तलाश मे था।

मोतीलाल नेहरू या मदनमोहन मालवीय, दोनों मे से किसी की जयंती थी। चौथाई सदी बीत गयी, याद कुछ धुंधिया गयी है। हमें एक कार्यक्रम आयोजित करना था। टंडन जी उनके पुराने संगी-साथी थे। आजादी की लड़ाई मे एकजुट लड़े थे। इससे उपयुक्त अवसर और कौन-सा हो सकता था कि टंडन जी उनके संस्मरण सुनाए!

मैं टंडन जी से मिलने गया, मात्र शिष्टाचार के नाते।

पहली ही उड़ान मे सूर्य तक पहुंचने के चक्कर मे अपने पंख नही जलाना चाहता था।

वह बड़े स्नेह से मिले। मेरे बारे मे सब कुछ पूछा, जाना। बस, एक बात मैंने नहीं बतायी कि मेरा-उनका दूर से रिश्ता था। दोनों परिवार मे समधियाना था।

रिश्ते की बैसाखी पर चढ़कर मैं तारे नहीं तोड़ना चाहता था। फिर चुनौती क्या रहती ? मैंने उनसे चर्चा की कबीर की, तुलसीदास की। वे उनके प्रिय कवि थे। मेरे भी। बड़े मगन-मन उनकी टीका करते रहे। मैंने उनके अंतर के किसी कोमल स्थल को सहला दिया था।

चलने लगा तो बोले, 'आ-जाया करो, जब समय मिले।'

पहला तीर अचूक रहा।

चौथी या पांचवी भेंट में मैंने जयंती की चर्चा की। उसमें अभी दो महीने शेष थे। बड़े विनीत स्वर में मैंने कहा, उनका मालवीय जी से निकट संपर्क ही नहीं रहा था, वह उनके अभिन्न मित्र भी थे। यदि उन्हें मेरा अनुरोध मान्य हो और प्रसारण कर सकें तो हम अपने को धन्य मानेंगे। उन्होंने, तीखी, संदिग्ध दृष्टि से मुझे देखा। मैंने मन में कहा, 'जाहू विप्र घर आपने', और एक भोली मुसकराहट के साथ उन पर निगाह टिका दी। बोला कुछ नहीं। बोलता भी क्या ?

मैंने सुना, वह कह रहे थे :

'तुम जानते हो, मैं मौजूदा सरकार का कृपा-पात्र नहीं हूं। कई बुनियादी मामलों में मेरा जवाहरलाल से गहरा मतभेद है।'

मैं इसके लिए तैयार था।

'यह मैं जानता हूं टंडन जी, किंतु इस प्रसारण का सरकार या जवाहरलाल से क्या वास्ता है ? आप तो मालवीय जी पर बात करेंगे।'

'किंतु कुछ ऐसे प्रसंग हो सकते हैं जिनके संदर्भ में सरकार की कड़ी आलोचना करनी पड़े—उसकी नीतियों की, उसकी कार्य-प्रणाली की—और सरकार के मायने हैं जवाहरलाल। सीधा प्रहार भी हो सकता है। सोच लो गोपालदास ! कहीं तुम्हें लेने के देने न पड़ें।'

तब तक आकाशवाणी संहिता अस्तित्व में नहीं आयी थी। कोई निर्देशक सिद्धांत थे, न दृष्टांत, न उदाहरण। समस्या का समाधान मुझे ही करना था और, वहीं, उसी समय। मोहलत मांगने का अर्थ होता कि मैं अपने बड़ों से परामर्श करना चाहता हूं। उसका परिणाम स्पष्ट था—प्रसारण की छुट्टी। मेरा ऐसा कोई विचार भी नहीं था। चुनौती मैंने ली थी, निर्णय मुझे करना था। किसी का सहारा, संबल नहीं चाहिए था।

मैंने उनसे निवेदन किया :

'टंडन जी, जब तक आप किसी व्यक्ति या राजनैतिक दल का नाम लेकर निंदा नहीं करते—और आप जैसा सुसंस्कृत व्यक्ति अकारण निंदा क्यों करेगा ?—जब तक किसी व्यक्ति या दल विशेष को ऐसा न प्रतीत हो कि आपने जो कहा है वह एकपक्षीय है, समुचित सोच या वस्तु-स्थिति प्रस्तुत नहीं करता

है, और उसका प्रत्युत्तर देना अनिवार्य है. तब तक मैं समझता हूं, किसी को कोई आपत्ति न होगी, न होनी चाहिए। कम-से-कम मुझे तो नहीं।'

मेरे बड़े बोल से टंडन जी को संतोष कम हुआ, कुतूहल अधिक।

'तुम निश्चित हो कि इन सीमाओं के भीतर मैं जो कहना चाहता हूं, कह सकूंगा ?'

'जी बिलकुल' मैंने भरसक आश्वस्त करने के स्वर में कहा। 'यह मेरी धृष्टता होगी यदि मैं अपेक्षा करूं कि आप वह न कह सकें जो सच्चे मन से कहना चाहते हैं। आप निःसंकोच कहें।'

'तुम पर आंच तो नहीं आयेगी ?'

'जी नहीं, आपके रहते नहीं।'

मैं बहादुर बन रहा था।

'ठीक है, मुझे तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार्य है। मैं प्रसारण करूंगा, किंतु हिंदी में।'

'जिस भाषा मे चाहें।'

फिर मैंने उन्हें तिथि, समय, अवधि आदि का ब्यौरा दिया।

किंतु ऊंट अभी सुई के नाके से पूरा नहीं निकला था। एक बाधा और थी। आलेख की। वह आशु वक्ता थे। साहस जुटाकर मैंने कहा :

'टंडन जी, प्रसारण के लिए आलेख तैयार करना होता है। आपको जब सुविधा हो, कर लें।'

उनकी भवें तनीं।

'तुम तो शायद जानते हो, मैं लिखकर नहीं बोलता। क्यों घोड़े पर जीन कसना चाहते हो ?'

मैं जानता था कि वह बहुत सुंदर बोलते थे, धाराप्रवाह बोलते थे। कहीं अटकाव-भटकाव नहीं होता था। मुझे आशंका थी कि कहीं रो मे उस सीमा को न लांघ जायें जो उन्होंने स्वयं मान ली थी। मेरे पास एक ही तर्क था, जो मैंने महादेवी जी के सामने भी प्रस्तुत किया था।

'आपकी जो इच्छा हो, मुझे मान्य होगी। मैंने तो केवल इसलिए कहा था कि आपका हस्तलिखित आलेख हमारे लेखागार की एक अमूल्य निधि होगा, और कुछ नहीं।'

दलील उन्हें जमी। वह मान गये।

उसके बाद जो कुछ हुआ, वह अप्रत्याशित नहीं था।

वह आलेख तैयार नहीं कर सके तो नहीं कर सके। मैं उनके पास जाता, देखता, वह कोशिश कर रहे हैं, जो-तोड़ कोशिश कर रहे हैं, लेकिन अपने स्वभाव

के प्रतिकूल वह नहीं जा सके।

प्रसारण का दिन आ गया। उन्होंने बड़े उदार भाव से कहा :

'गोपालदास, दोष मेरा है, मैं अपना वचन नहीं निभा सका। तुम इस प्रसारण को रद्द कर दो। मुझे कोई शिकायत नहीं होगी।'

प्रसारण कैसे रद्द किया जा सकता था? हमने उसके इतने ढोल पीट रखे थे।

मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि मालवीय जी पर प्रसारण होगा और वही करेंगे। साथ में यह सुझाव भी कि वह कागज पर कुछ तथ्य अंकित कर लें जिनके आधार पर वार्ता की जा सके।

इस प्रसंग का समापन चरण अत्यंत रोमांचकारी था।

उसने मुझे अंतिम घड़ी तक सांसत में लटकाये रखा।

प्रसारण का समय था सायंकाल आठ बजे। अवधि पंद्रह मिनट। उसके शीघ्र पश्चात् हिंदी समाचार थे, जो उन दिनों सवा आठ बजे होते थे। आठ से कुछ सैकेंड पहले ही टंडन जी आये। मैं उन्हें सीधा स्टुडियो में ले गया। उन्होंने कहीं कुछ अंकित नहीं कर रखा था। इतना भी समय नहीं था कि एक बार फिर उनको मानी हुई सीमाओं का स्मरण करा दूं। उन्होंने स्थान ग्रहण ही किया कि उद्घोषणा हो गयी। उन्होंने आंखें बंद की और बोलना आरंभ किया।

उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता असाधारण थी। वह बोल रहे थे, बहुत सुंदर बोल रहे थे। बीते काल की घटनाओं का वर्णन करते-करते—जिनमें उन्होंने स्वयं विशिष्ट भूमिका निभाई थी—वह भावमग्न हो गये। घड़ी की सुइयां दौड़ती जा रही थीं, 8-15 में कुछ ही क्षण शेष रह गये थे, और वह, अंतरकेंद्रित हो, बोले जा रहे थे। समापन के कहीं लक्षण नहीं थे।

8-15 हो गये। दिल्ली से समाचार के रिले का समय हो गया। कार्यक्रम अधिकारी मेरे पास दौड़ आया, बदहवास। आदेश चाहता था, क्या करें? प्रसारण काट दें? समाचार न लें? किंतु ऐसा कभी हुआ नहीं था। मैंने निर्णय किया, प्रसारण पूरा होगा।

जहां एक अनहोनी हो रही थी—टंडन जी का प्रसारण, वहां एक और अनहोनी हो सकती थी—समाचार का विलंब से रिले। पीछे क्षमा मांगते रहेंगे।

8-18 पर उन्होंने आंखें खोलीं, घड़ी देखी, चौंके, खिड़की के पार खड़े हुए मुझे देखा, और कुछ ही क्षणों में एक अनुभवी वक्ता की नाईं, वार्ता का सहज, स्वाभाविक समापन किया।

समाचार चार मिनट देर से आरंभ हुए।

वह बाहर आये। अपनी अनोखी शालीनता से कहा :

'लज्जित हूं, इस अनुशासनहीनता के प्रदर्शन के लिए।'

क्षमा के लिए उनके हाथ जुड़ पायें उससे पहले ही मैंने उन्हें अपने हाथों मे बांध लिया।

पुरुषोत्तमदास टंडन का आकाशवाणी से यह पहला और मात्र प्रसारण था, और मेरे लिए एक अविस्मरणीय अनुभव।

एक प्रसारण जो नहीं हुआ

उस गांधी के संपर्क से मैं आज तक सुवासित हूं,
और
उस स्वर्णिम अवसर के खोने से दुखी।

बात 1969 की है।

देश मे गांधी जन्म-शताब्दी मनायी जा रही थी।

आकाशवाणी के सभी केंद्रों से शताब्दी संबंधी कार्यक्रमों के नीति-निर्देशन और संचालन का कार्यभार, केंद्रीय स्तर पर, मुझ पर था।

हमने राजेन्द्र प्रसाद-व्याख्यानमाला के लिए जयप्रकाश नारायण को आमंत्रित किया था। विषय था—गांधी जी के विचार और दर्शन की व्याख्या, वक्ता की अपनी दृष्टि से।

निमंत्रण उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। वह दिल्ली आये हुए थे। अपने अंतरंग मित्र जे० जे० सिंह के फ्रेंड्स कालोनी निवास पर ठहरे थे। हमें सूचित कर दिया था।

मैंने उनसे टेलिफ़ोन पर बात की, व्याख्यान की तिथि, स्थान और समय आदि निश्चित करने के लिए। उन्होंने आकाशवाणी के महानिदेशक से मिलकर, विषय पर विचार-विमर्श करने की इच्छा प्रकट की। मैं उन्हें ब्रॉडकास्टिंग हाउस लिवा लाने के लिए गया।

वह बहुत ही प्रसन्न मुद्रा मे थे। कार मे सारे रास्ते मुझे समझाते रहे, सर्वोदय की उनकी क्या कल्पना है। व्याख्यान मे उसी पर बल देना चाहते थे। बोले :

'भाई जवाहर गांधी जी को पूरी तरह समझा नही। वह उनकी विचारधारा से पूरी तरह आत्मसात् नही हो पाये। जैसे नगर का आदमी, अपने स्थान पर ही

बैठे अपनी दृष्टि से देहात की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने की कोशिश करता है और असफल रहता है. कुछ वैसी ही स्थिति जवाहरलाल की थी। जवाहरलाल को मैं अपना बड़ा भाई मानता था, वह मुझसे स्नेह करते थे, भरपूर स्नेह। यदि उनकी आलोचना में कुछ बोलूं, (उसमें द्वेष या वैर का भाव बिलकुल नहीं होगा, यह कैसे हो सकता है?) तो आप लोगों को कोई आपत्ति तो नहीं होगी?'

मैंने कहा, 'जिस व्यक्ति के लिए आपके मन में इतना आदर है, जो आपसे इतना स्नेह करता था, उसकी आप आलोचना भी करें तो उसमें कटुता कैसे आ सकती है? छोटा भाई बड़े भाई की बात करेगा, उसमें हम कहां आते हैं? आप जो, जैसा उचित समझें कहें।'

हम ब्रॉडकास्टिंग हाउस पहुंचे।

महानिदेशक ने उनकी बड़ी आवभगत की। वह आध घंटे के लगभग रुके। बहुत प्रसन्न थे। इधर-उधर की बातें करते रहे। गांधी जी, जवाहरलाल के अपने संस्मरण सुनाते रहे। फिर, उन्होंने जवाहरलाल के बारे में वही बात दोहरायी जो मुझसे रास्ते में कही थी।

महानिदेशक अपने में खिंच गये। उनका मुंह उतर गया। जयप्रकाश ताड़ गये, किंतु उन्होंने अपनी मुद्रा यथावत् बनाये रखी।

जैसे कहीं कोई महीन धागा टूट जाता है, वैसा ही कुछ हो गया। टूटा तो टूटा।

वह चलने को उठे। महानिदेशक उन्हें छोड़ने साथ आये। सीढ़ियां उतरते तक उनसे रहा न गया। वह सहमते-से बोले :

'आप जो भी कहेंगे, वह बहुत सुंदर और प्रभावकारी होगा। इस विषय पर आपसे अधिक और कौन जानकार और अधिकारी हो सकता है। हमारा परम सौभाग्य है कि आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया। बस, एक बात है।'

वह रुक गये।

जयप्रकाश ठिठके। पूछा, 'क्या?'

'मेरी आपसे इतनी ही विनती है, आप पंडित नेहरू की आलोचना न करें। हमें ग़लत समझा जा सकता है।'

उनका स्वर घुट गया था।

जवाहरलाल की बेटी प्रधानमंत्री थी।

क्षण भर को जयप्रकाश के चेहरे पर कुछ रेखाएं उभरीं। अपने को नियंत्रित किया, कहा :

'अच्छा, सोचूंगा।'

उन्हें छोड़ने मैं उनके साथ गया। रास्ते भर मौन रहे। मैंने एक-दो बार बात चलाने की चेष्टा की। वह अंतरमुखी बने रहे।

दूसरे दिन सवेरे उन्होंने महानिदेशक को टेलिफोन कर दिया। आनेवाले दिनों में वह देहात के दौरे में बहुत व्यस्त रहेंगे। राजेन्द्रप्रसाद व्याख्यानमाला नहीं कर पायेंगे। आकाशवाणी को उनके कारण जो भी असुविधा होगी, उसका उन्हें हार्दिक खेद है।

टौइनबी !
उसे कौन सुनना चाहता है ?

कथा कुछ कुर्सियों की

इस कथा को एक प्रतीक-रूपक में भी बांधा जा सकता है। पात्र हैं, चार कुर्सियां। एक छोटी, एक मध्य की, एक मध्येतर और एक बड़ी। दो पात्र और हैं। वे अदीठे रहते हैं। एक बूढ़ा इतिहासकार और एक तोप कुर्सी।

यह सत्य कथा है, तो प्रतीकों का सहारा क्यों लूं ? स्पष्ट ही कहूं।

मैंने प्रस्ताव किया था कि गांधी-जन्मशती के उपलक्ष्य में आकाशवाणी के उस वर्ष के पटेल स्मारक-व्याख्यान के लिए प्रोफेसर आरनोल्ड टौइनबी को आमंत्रित किया जाये। बीसवीं सदी के इतिहासकारों में टौइनबी एवरेस्ट शिखर हैं। वह गांधी जी को विश्व-इतिहास का एक महापुरुष मानते हैं।

महानिदेशक ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया, मंत्रालय में संयुक्त सचिव ने समर्थन किया। प्रस्ताव मान लिया गया।

टौइनबी से सपर्क किया गया। उन्होंने तत्परता से उत्तर दिया। लिखा, 'आपने मुझे इतना मान दिया है, अभिभूत हूं। आपका प्रस्ताव सिर-आंखों पर। हां, एक रियायत चाहता हूं। बूढ़ा हूं (वह चार बीसी हो चुके थे), क्षीणकाय हो गया हूं। भारत नहीं आ पाऊंगा। इतनी लंबी यात्रा करने की सामर्थ्य नहीं है। यदि व्याख्यान का आयोजन इंग्लैंड में कहीं हो सके तो अवश्य करूंगा।'

पटेल स्मारक-व्याख्यान भारत में ही होते हैं, लेकिन टौइनबी जैसे वरिष्ठ और विरले व्यक्ति के लिए इतनी-सी रियायत करने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी ! जन्मशती में यह व्याख्यान निश्चय ही मील का पत्थर होगा।

मैंने सिफ़ारिश की, महानिदेशक ने अनुमोदन किया, संयुक्त सचिव ने समर्थन।

मामला बड़ी कुर्सी—मंत्रालय के श्रीमान सचिव—के सामने पहुंचा। आदेश हुआ हम तीनों को, उनके सामने उपस्थित हों, और अदेर। उनके कक्ष में पहुचे। वह भरे हुए थे। हमारे बैठते ही विस्फोट हुआ :

'टॉइनबी ! आरनोल्ड टॉइनबी ? उसे कौन सुनना चाहता है ? वह बूढ़ा है, खंडहर है, उसकी एक टांग कब्र मे है। नही, यह नहीं चलेगा।'

बड़ी कुर्सी ने फ़तवा दे दिया।

मैंने विरोध करना चाहा। कुछ कह सकूं उसके पहले ही :

'नही, बिलकुल नही। कोई और नाम सोचो। कोई ऐसा व्यक्ति जिसे लोग सुनना चाहें। जो कोई नयी बात कह सके। जो लोगो के दिमाग़ मे हलचल पैदा कर सके, उन्हें झकझोर सके।'

वह अपने आवेश मे बह रहे थे। जब शांत हुए तो मैंने पूछा :

'जैसे।'

'जैसे ? मैं बताता हूं। जैसे, जैसे,'''चारु मजुमदार।'

मुझे अपने कानो पर विश्वास नही हुआ। अचभे मे मेरे मुंह से वह नाम बेसाख़्ता दोहरा गया, 'चारु मजुमदार !'

'हां, चारु मजुमदार। क्यों, वह नही जमता ? उसकी टक्कर का एक और नाम बताऊं ? कानु सान्याल।'

अपने को भरसक सयत रखकर मैंने कहा, 'आप गभीरता से ये नाम सुझा रहे हैं ?'

'तो क्या मैं मसख़री कर रहा हूं ?'

'मैं नही जानता कि चारु मजुमदार या कानु सान्याल गांधी जी को गाली देने के अलावा क्या करेंगे। क्या आप गांधी-जन्मशती के दौरान पटेल-व्याख्यानमाला के माध्यम से उन्हें यह अवसर देना चाहते हैं ?'

'ओह ! ये नाम पचना मुश्किल काम है।'

बड़ी कुर्सी ही ऐसा भौंडा व्यंग्य कर सकती थी।

'यह आपका फ़ैसला होगा, आपकी जवाबदेही होगी।'

'तुम नही मानते तो छोड़ दो इन नामों को। मैं और बताता हूं। हां, हम जूलियस नाइरेरे को क्यो न बुलायें ? उन्हे अफ्रीका का गांधी कहते हैं।'

'बहुत अच्छा नाम है, लेकिन'''

'लेकिन क्या ?'

'वह तन्जानिया के राज्याध्यक्ष हैं। राज्याध्यक्ष को आमंत्रित करने का एक सुनिश्चित *प्रोटोकोल (नयाचार) है। राज्याध्यक्ष को कदाचित् राज्याध्यक्ष ही आमन्त्रित कर सकता है।'*

'हूं।' वह कुछ सोच मे पड़ गये। फिर बोले, 'एक नाम और है, नाइरेरे से

भी बढ़कर।'

'वह कौन?'

'हो ची मिन्ह। अंकल हो। उनका गांधी जी जैसा ही सरल और सात्विक व्यक्तित्व है और यह देश उनका प्रशंसक है।'

मैंने उन्हें समझाया कि हो ची मिन्ह के साथ भी वही अड़चन है जो जूलियस नाइरेरे के साथ। वह भी राज्याध्यक्ष हैं। उन्हें आप स्वयं आमन्त्रित नही कर पायेंगे।

मुझे लगा, वह बंद गली के आखिरी मोड़ पर आ गये थे।

सुअवसर जानकर मैंने कहा, 'आप फिर से एक बार विचार लें। टीइनबी सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं, और...'

'नही, नही, नही। वह बूढ़ा है, वह खंडहर है, उसकी एक टांग कब्र मे है। उसे कोई नही सुनना चाहता। उसे तुम भूल जाओ।'

मेरे दोनो साथी मौन बैठे थे। मैं भी मौन शरणं हो गया।

जैसे 'यूरेका' (मैंने पा लिया) चिल्लाता हुआ यूनानी गणितज्ञ अपने नगर की गलियों मे नंगा दौड़ता गया था, कुछ ऐसी ही अवस्था श्रीमान सचिव की थी जब सहसा उनके मुंह से निकला :

'एलैकजेंडर डुबचेक!'

उन्होंने एक-एक करके हम तीनों को देखा। उनकी आखें खिली हुई थी। सोच रहे होंगे, बड़ी दूर की कौड़ी लाया हूं।

डुबचेक चेकोस्लोवाकिया के राज्याध्यक्ष थे जिन्हें उसी साल रूसियों ने असहयोग के कारण अपदस्थ कर दिया था।

'गांधी जी ने अंग्रेजो से असहयोग किया, डुबचेक ने रूसियों से असहयोग किया।'

'गांधी जी के तरीके से?' मैंने पूछा।

'उससे क्या, असहयोग असहयोग है, कैसे भी हो।'

'लेकिन गाधी-जन्मशती में आप डुबचेक से किस विषय पर बोलने को कहेंगे? हमे यह भी नही मालूम कि उन्होने कभी गांधी जी को पढ़ा या जाना है। और, यह अंग्रेजी भी बोलते हैं या नही। पटेल स्मारक-व्याख्यान अंग्रेजी में होते हैं।'

'अब और बहस की गुंजाइश नही है गोपालदास। मैंने तय कर लिया है, इस व्याख्यानमाला के लिए डुबचेक को आमन्त्रित किया जाये।'

मैं अभी बाजी हारने को तैयार नहीं था।

'आपके आदेश का पालन होगा, अवश्य। एक बात कहना चाहता हूं। आज्ञा हो तो कहूं ?'

'कहो।'

'डुबचेक को रूसियों के कारण अपदस्थ होना पड़ा था। वे उनसे रुष्ट थे। रूसी हमारे मित्र हैं। उन्होने आड़े समय में सदा हमारा साथ दिया है। डुबचेक को हमारा निमन्त्रण वे अन्यथा न समझ लें। मेरा निवेदन है, इस मामले मे आप विदेश मंत्रालय से परामर्श कर लें।'

श्रीमान सचिव अपने अनूठे नाम-रत्न की खोज के सुखबोध (या कहूं सुख-भ्रांति) में इतने मगन थे कि मेरे सुझाव में निहित चाल नही समझ पाये।

मैंने चोर दृष्टि से सयुक्त सचिव की ओर देखा। वह समझ गये थे। उनके चेहरे पर एक मुखर मुसकान थी।

मुझे विदेश सचिव के नाम पत्र का मसविदा तैयार करने का आदेश दिया गया। न चाहते हुए भी मैं अमान्य न कर सका। नौकरी का अनुशासन होता है। मसविदा मजूर हो गया। पत्र विदेश सचिव को भेज दिया गया।

अब बड़ी कुर्सी का प्रस्ताव तोप कुर्सी के सामने था।

तोप कुर्सी दगी। प्रस्ताव खेत रहा। बड़ी कुर्सी मैदान छोड़ गयी।

श्रीमान सचिव दस दिन अपनी नौबत बजाकर चले गये।

थोड़े दिन बाद टॉइनबी की दूसरी टांग भी क़ब्र मे चली गयी।

आकाशवाणी सदा, सदा के लिए आरनोल्ड टॉइनबी के प्रसारण से वंचित रह गयी।

कालपेटी बनाम काल

घटना वह छोटी थी,
और बडी भी।
छोटी इसलिए कि कुछ हुआ नही,
बडी इसलिए कि बहुत कुछ हो सकता था।
बहुत कुछ कि—
रानी, मेरी पत्नी, मर सकती थी।
यदि वह मर जाती तो क्या मैं उनके मरने का, उनकी हत्या का, दोषी होता ?
मानव न्याय की दृष्टि से तो शायद नहीं,
लेकिन—
मानव न्याय से परे, उसके ऊपर भी, कोई न्याय होता है,
क्या वह भी मुझे निर्दोष मानता ?
शायद नही।
शायद क्या, मैं समझता हूं, नही—बिलकुल नही।

नेहरू कालपेटी के लिए सामग्री जुटाई जा रही थी। आकाशवाणी मे इस कार्य के लिए जिन लोगों पर दायित्व था, उनमे एक मैं भी था।

इंदिरा गांधी को रेकॉर्डिंग करनी थी। वह कालपेटी के लिए जवाहरलाल की किसी पुस्तक से कोई अंश पढ़ना चाहती थी। पिता के साथ पुत्री की आवाज़ भी सदा के लिए सुरक्षित हो जाये।

उस दिन सवेरे से रानी की तबीयत ठीक नहीं थी। जी बैठा जा रहा था। हाथ-पैर सुन्न हो रहे थे। दो बरस पहले वह इग्लैंड गयी थीं। तब फ्रैंकफर्ट और लंदन के बीच उड़ान के दौरान कुछ देर के लिए आंखो के आगे अंधेरा छा गया

था और वह चेतनाहीन हो गयी थीं। बाद में निदान हुआ कि उनका हृदय क्षति-ग्रस्त हो गया था। सब से पहली बार आज उनकी कुछ वैसी ही हालत हो रही थी।

टेलिफ़ोन की घंटी बजी। प्रधानमंत्री के सूचना अधिकारी थे, एक पुराने मित्र। कह रहे थे :

'मैडम साढ़े आठ बजे रेकॉर्डिंग करेंगी, अपने निवास पर। आकाशवाणी के इंजीनियरों से मैंने कह दिया है। तुम महानिदेशक को सूचित कर दो किसी को वहां उपस्थित रहना होगा।'

उस समय पौने आठ बज रहे थे।

मैंने महानिदेशक को टेलिफ़ोन किया। उन्होंने कहा, 'मेरी ओर से तुम्हीं चले जाना। चाहो तो उपमहानिदेशक को अपने साथ ले लेना।'

उपमहानिदेशक तुरत राज़ी हो गये। तय हुआ, वह 1 सफ़दरजंग के प्रवेश-द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करेंगे।

रानी ने सब सुन लिया था।

मैंने पूछा, 'मैं चला जाऊं?'

वह मौन रहीं। यह मौन सम्मति का लक्षण नहीं था। मैं जाना नहीं चाहता था क्योंकि घर में कोई और नहीं था, लेकिन बिना जाये रह भी नहीं सकता था। कर्तव्य था—दोनों ओर।

कुएं और खाई का विकल्प था।

मैंने सोचा, तैयार तो हो लूं। कपड़े पहनने दूसरे कमरे में चला गया।

रानी ने पुकारा, 'मैं चली, मैं गयी। हे मालिक, हे मालिक!'

मैं दौड़कर उनके पास पहुंचा।

'कहा-सुना सब माफ़ करना। बच्चों से कहना, मां तुम्हें याद करते-करते चली गयी।'

वह हाथ जोड़े यह सब कह रही थीं। बहुत बेचैन थीं। मैंने पास बैठकर सिर सहलाया, ढाढ़स बंधाया, आश्वस्त किया। 'मैं कहीं नहीं जा रहा हूं। मालिक में विश्वास रखो। सब ठीक हो जायेगा। उपमहानिदेशक को कहे देता हूं, वही चले जायेंगे।'

मैंने टेलिफोन उठाया। वह ठंडा पड़ा था। पीटा, खटखटाया। वह दम तोड़ चुका था।

मैंने रानी से कहा, 'मैं पड़ोस के घर से टेलिफ़ोन करके अभी आता हूं।'

लेकिन वह मुझे अपने पास से हटने देने को तैयार नहीं थीं।

'चले गये तो लौटने पर मुझे जीवित नहीं पाओगे। मैं जा रही हूं। तुम

समझते क्यों नही ?'

उन्होंने मुझे पकड़ लिया। डूबते व्यक्ति के हाथ में जो शक्ति होती है, वह उनकी पकड़ मे थी।

उस समय 8-10 हो गये थे।

1 सफ़दरजंग मेरे घर से पांच किलोमीटर दूर था।

रानी की पकड़ कुछ ढीली होने लगी। आहिस्ता से मैंने अपने को छुड़ाया। अलमारी से कोरामीन निकाली और दुगुनी खुराक उड़ेलकर उन्हें पिला दी। पीकर वह चुपचाप लेट गयी। आखें बंद कर ली। कुछ देर बाद मैं उठा, कार की चाभियां निकाली और कमरे से जाने लगा। आहट पाकर वह सावधान हुई।

'कहां जा रहे हो ?'

'कही नही, यही बैठक तक।'

'मुझे छोड़कर मत जाना।'

'नही, नही जाऊंगा।'

वह आपद्धर्म का झूठ था।

बैठक से बाहर जाने का दरवाजा खोला। कुंडी लगायी। बाहर से ताला बंद किया। कोई आये तो ताला देखकर लौट जाये, घंटी न बजाये। और 'हे राम' कहकर सीढ़ियां उतर गया।

गरमी का मौसम था पर मेरे हाथ-पांव बर्फ़ हो रहे थे।

विधाता एक बार मुझसे क्रूर खिलवाड़ कर चुका था।

कोई बीस साल पहले मेरी लड़की मधु बीमार थी। उसकी हालत चिंताजनक थी। मैं पास के कमरे मे बैठा दफ्तर के चैकों पर हस्ताक्षर कर रहा था। कलाकारों के भुगतान मे विलंब न हो जाये।

भुगतान मे विलंब नही हुआ।

वह मर गयी।

आज मैं कालपेटी के लिए काल को निमंत्रण देकर जा रहा था।

जब मैं 1 सफ़दरजंग पहुंचा, 8-25 हो गये थे।

मैं सीधा उस कमरे मे गया जहां रेकॉर्डिंग की व्यवस्था की गयी थी।

मैंने पूछा, 'सब तैयार है ?'

इंजीनियर उत्तर दे, उससे पहले इंदिरा गांधी कमरे मे थीं। अभिवादन

किया। उन्होंने स्वर परीक्षण दिया। रेकॉर्डिंग आरंभ हो गयी। शायद 'डिसकवरी ऑफ़ इंडिया' से कोई अंश था। रेकॉर्डिंग में दो मिनट से अधिक नहीं लगे।

जैसे ही इंदिरा जी कमरे से निकलीं, मैं बाहर लपका। उपमहानिदेशक मिले। अप्रसन्न थे। 'तुम कब आये और अंदर चले गये ? मैं बाहर प्रतीक्षा में खड़ा रहा।'

मैंने क्षमा मांगी। कहा, 'फिर बताऊंगा, अभी जा रहा हूं।'

शहर में शायद ही कभी मैंने इतनी तेज़ गाडी चलायी हो। घर पहुंचकर एक बार में तीन-चार सीढ़ियां फलांगता ऊपर चढ़ा। दरवाज़े का ताला खोलकर, न जाने क्यों ताली अड़े जा रही थी—रानी के कमरे की ओर तीर-सा गया। हड़बड़ाहट में मेज़ पर रखा एक शीशे का गिलास चपेट में आकर गिर पड़ा और टूट गया।

मेरा माथा ठनका।

क्या, यह कोई दैवी संकेत था ?

'मैं उस दिव्य कुंभकार के हाथों गढ़ा
मिट्टी का छोटा-सा पात्र हूं, और कुछ नहीं।
जब उसे न रहेगी मेरी और आवश्यकता,
तब गिरकर चूर-चूर हो जाने देगा।'

रानी बिस्तर पर निश्चल पड़ी थी। मैंने अपने सात पितरों का स्मरण किया और दबे, धीमे स्वर में पूछा :

'कैसी हो ?'

उन्होंने आंखें खोलीं।

मानो कहीं दूर से, दुर्बल, अस्पष्ट आवाज़ आयी :

'तुम मुझे छोड़कर चले गये।'

उनमें शिकायत की सामर्थ्य नहीं थी।

'मैं आ गया हूं। अब कहीं नहीं जा रहा हूं, कहीं नहीं।'

'मैं ठीक हूं।'

मैं हत्यारा होने से बच गया था !

छोटे मुंह बड़ी बात कहने जा रहा हूं :

कुछ वैसी ही जैसी अस्त होते सूर्य से मिट्टी के एक नन्हे दीपक ने कही थी।

सूर्य उदास मन से बोले थे :

'मेरे बाद धरती पर प्रकाश कौन करेगा ?'

दीपक ने विनीत स्वर में कहा था :

'मैं करूंगा, महाराज।'

देश के एक महान नेता थे। उन्हें लोह पुरुष कहा जाता है। शुरू मे वकालत करते थे।

एक दिन कचहरी में जिरह कर रहे थे। अर्दली ने उन्हें एक तार लाकर दिया। खोलकर पढ़ा। क्षण भर को लगा, वह हिल गये थे। फिर तुरत प्रकृतिस्थ होकर जिरह जारी रखी। कचहरी उठने तक जिरह समाप्त नहीं हुई। अगले दिन के लिए स्थगित करने के आदेश हुए। उन्होंने न्यायाधीश से अनुरोध किया, जिरह कुछ दिन के लिए स्थगित कर दी जाये। उनकी पत्नी का देहांत हो गया है। कचहरी मे तार से उन्हें यही सूचना मिली थी।

मेरा प्रश्न है :

उनकी पत्नी मर गयी थी, फिर भी वह जिरह करते रहे। यदि उनकी पत्नी मरनेहार होती और उनके अतिरिक्त पत्नी की देखभाल करनेवाला घर मे कोई और नही होता,

तो,

क्या वह उन्हें मरने देते?

अदालत में जिरह करने आते?

लोग कहते हैं :

कर्त्तव्य-निष्ठा की एक सीमा होती है। उससे आगे बढ़ना, उसका अतिक्रमण करना, मूर्खता है।

वे सच कहते होंगे।

बाज़ी लग गयी थी। एक जनाज़ा निकलना था। एक और निकल सकता था। आन पर बन आयी थी। एक और निकलना है तो निकले, धूम से निकले।

24 दिसंबर, 1972। अपराह्न के समय राजा जी की मृत्यु हुई थी। देश के महान नेता थे। पहले भारतीय गवर्नर जनरल थे। पूरे राजकीय सम्मान से अन्त्येष्टि होनी थी, अगले दिन।

मैं उस दिन अवकाश पर था।

आकाशवाणी से उद्घोषणा हुई थी, शवयात्रा और दाहकर्म का आंखों-देखा हाल दिन के तीन बजे से प्रसारित किया जायेगा, स्थानीय सुननेवालों के लिए तमिल में, और अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेज़ी में।

मैंने सुना था, और मन क्षोभ से भर गया था।

अगले दिन दफ़्तर पहुंचा। आंखों-देखा हाल की जो व्यवस्था की गयी थी, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त की। मेरे पद का सीधा दायित्व था। सवेरे 11 बजे उपमहानिदेशक महोदय के कमरे में बैठक होनी थी, व्यवस्था का अंतिम जायज़ा लेने के लिए। मैंने सोच लिया था, मुझे क्या करना है।

बैठक आरंभ हुई। मैंने कुछ कहने की अनुमति चाही। कहा :

'कल मैं उपस्थित नहीं था। आंखों-देखा हाल के बारे में जो निर्णय लिया गया है, मैं उससे सहमत नहीं हूं। आपने स्थानीय लोगों की भावना का आदर किया है, कि उनके लिए यह हाल तमिल में सुनाया जाये, अच्छा किया है, बहुत अच्छा किया है, लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर यह केवल अंग्रेज़ी में हो, अनुचित है। आप हिंदी को कैसे काट सकते हैं? ऐसा नहीं होना चाहिए। मुझे सर्वथा अमान्य है। मैं इसका विरोध करता हूं।'

उपमहानिदेशक पुराने साथी थे, मित्र थे, स्नेही थे। उन्हें लगा, भावनावश मैं

अव्यावहारिक हो रहा हूं।

'तुम क्या कह रहे हो? सब प्रबंध हो चुके हैं। तीन बजे से आंखों-देखा हाल का प्रसारण निश्चित है। अब, इतनी देर गये, कुछ नहीं हो सकता है।'

'अब भी हो सकता है, आप चाहें तो।'

'कैसे?'

'पहले आप अपना निर्णय बदलने को तैयार हों।'

'मान लो तैयार हो गये, किंतु इतने कम समय में मद्रास में हिंदी में आंखों-देखा हाल सुनानेवाले कहां से आयेंगे?'

'यह मुझ पर छोड़ दीजिए। मैं जो कह रहा हूं, वह न कर सकता तो प्रश्न ही न उठाता।'

'तुम भावुक हो रहे हो।'

'हिंदी की हेटी हो रही हो और मैं भावुक न होऊं, चुप रहूं, यह कैसे हो सकता है?'

वह मुझसे बड़े पद पर थे। मैं उनके निर्णय को चुनौती दे रहा था। वह बुरा मान सकते थे। अपने निर्णय पर अड़े रह सकते थे। अनुशासन के नाते मैं उनकी अवमानना नहीं कर सकता था। लेकिन वह सज्जनता के संस्कारों में पले-बसे थे।

'मुझे आशंका है, जो तुम कह रहे हो वह नहीं हो पायेगा, लेकिन तुम्हारा इतना प्रबल आग्रह है, मैं माने लेता हूं। इतना जान लो, यदि हमने उद्घोषणा कर दी कि आंखों-देखा हाल हिंदी में भी सुनाया जायेगा और तुम समय से उसकी व्यवस्था नहीं कर पाये तो—राजा जी की शवयात्रा तुम्हारे लिए एक क्षण भी नहीं रुकी रहेगी। इट विल बी योर फ्यूनरल टू (तो तुम्हारा अपना जनाजा भी निकल जायेगा)।'

'आभारी हूं। विश्वास रखिये, मेरे कारण आपको कभी नीचा देखने की स्थिति नहीं आयेगी।'

उस समय बारह बज रहे थे।

आंखों-देखा हाल आरंभ होने में तीन घंटे शेष थे।

मैं अपने कमरे में गया। टेलिफोन उठाया। आकाशवाणी मद्रास के केंद्र निदेशक के नाम तड़ित 'कॉल' मांगा। तुरत मिल गया। संशोधित निर्णय की उन्हें सूचना दी। वह हकबकाये। आनाकानी करने लगे। मुझे कुछ कड़वा बोलना पड़ा।

'बहस मत करो। उसके लिए समय नहीं है। आदेश का पालन करो।'

'लेकिन यहां, एकदम, हिंदी में आंखों-देखा हाल सुनानेवाले मैं कहां से लाऊं?'

'उसके लिए तुम्हें कहीं बाहर नहीं जाना होगा।'

'तो ? क्या पहेलियां बुझा रहे हैं ?'

'तुम्हारे केंद्र में ही हैं, स्टाफ़ पर।'

'मेरे केंद्र में हैं ? मैं किसी को नहीं जानता हूं।'

'मैं जानता हूं।'

'कौन हैं, बताइए।'

वहां रमेश चौधुरी 'आरिगपूडि' थे। दाक्षिणात्य हैं, तेलुगु, पर हिंदी ऐसी लिखते-बोलते हैं कि हिंदी भाषी को ईर्ष्या हो। विविध भारती सेवा में दो महिला उद्घोषिका थीं। एक तमिल, तुलसी जयरामन और दूसरी तेलुगु। उसका नाम मैं भूल गया हूं।

'आरिगपूडि' और उनके साथ उन दोनों लड़कियों में से किसी एक को ले लो। उनकी भाषा, उनका उच्चारण, सब चौकस है। किसी को आपत्ति नहीं होगी।'

'लेकिन 'आरिगपूडि' अस्वस्थ हैं। आज दफ़्तर नहीं आये हैं।'

'तुम किसी को उनके घर भेजो। कहो, दिल्ली से आदेश है। साथ यह भी जोड़ देना कि मेरा व्यक्तिगत अनुरोध है। वह कैसी भी हालात में हों, अवश्य आयेंगे।'

'अच्छा।'

'एक बात और।'

'अब क्या ?'

'आंखों-देखा हाल हिंदी में आरंभ होगा, और फिर अंग्रेजी में। यह क्रम अंत तक बना रहेगा।'

'लेकिन...'

'तुम्हें जो कहा जा रहा है, वह करो। तुम पर कोई आंच नहीं आयेगी।'

तीन बज रहे थे। अपने कमरे में, मैं अकेला बैठा था। रेडियो लगा हुआ था। उद्घोषणा आरंभ हुई—'कुछ ही क्षणों में आप एक महत्वपूर्ण प्रसारण सुनेंगे।' दो-तीन क्षणों का अंतराल था। कभी क्षण भी युग बन जाते हैं।

और फिर :

राजा जी हॉल से आरंभ होनेवाली शवयात्रा के पहले चरण का आंखों-देखा हाल, विश्वास-भरे, सधे स्वर में 'आरिगपूडि' सुना रहे थे :

हिंदी में।

आन रह गयी थी।

मन किसी अदृश्य सत्ता के प्रति विनत था।

शेक्सपियर की पंक्ति में

वह कवि जी मुझसे रुष्ट थे।

मैं उनकी कविता की सराहना नहीं करता था।

जैसे डीलडौल से भारी-भरकम थे, उससे कम उनका काव्य नहीं था। दो-तीन प्रबंध काव्य लिख चुके थे। हरेक का तौल एक किलो तो—तब सेर चलता था—अवश्य रहा होगा।

आकाशवाणी से मैं एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन आयोजित कर रहा था। उसमें उन्हें आमंत्रित नहीं किया गया था।

मेरे पास आये, फनफनाते हुए। शिव जी का तीसरा नेत्र खुला हुआ था।

'आपने मुझे नहीं बुलाया! आप कैसे बुलाते? आप हैं अंग्रेज़ी के पक्षधर—(मर्माहत करनेवाली गाली थी)—अंग्रेज़ी के जानकार। आप क्या जानें, हिंदी में क्या लिखा जा रहा है, कैसा लिखा जा रहा है, कौन लिख रहा है? आपकी प्रिय भाषा का वह जो कवि और नाटककार है, शेक्सपियर—क्या नाम है उसका पहला? हां, विलम, विलम, वही, आज चार सौ साल बाद भी दुनिया उसके गुण गा रही है। आज से चार सौ साल बाद मेरे भी गुण गाये जायेंगे। समझे? आप क्या समझेंगे भला!'

'महाराज, मैंने अमृत का आचमन नहीं किया है। मुझे यही सुख है कि तब मैं नहीं होऊंगा।'

'आप मेरा उपहास कर रहे हैं? आप पछतायेंगे। मैं देख लूंगा।'

उनके मुंह से झाग निकलने लगे थे। आंखों में आग दहक रही थी।

उन दिनों हिंदी के वरिष्ठ कवियों में एक बाबा भोलेनाथ थे। नाम था बालकृष्ण

शर्मा 'नवीन'। मैं उनके स्नेह का पात्र था।

कवि जी उनके पास गये। उनकी व्यथा सुनकर औढरदानी भोलेनाथ पसीज गये। बोले :

'चलो, मेरे साथ आओ।'

मैंने देखा, नवीन जी मेरे कमरे मे आ रहे हैं। उनके पीछे कवि जी हैं। वह सदा मस्ती का आलम अपने साथ लिये चलते थे। आज उनकी आकृति गंभीर थी। कारण उनके साथ था।

मैंने उनका अभिवादन किया। आदर से बैठाया। पूछा, 'कैसे कष्ट किया? मुझे बुला लेते, मैं आ जाता।'

'गोपालदास जी, मेरे इन मित्र के साथ अन्याय हुआ है, आपके हाथों। योग्य हैं, अच्छा लिखते हैं, कई ग्रंथों के रचयिता हैं। कवि-सम्मेलन मे ऐसे लोग नही आयेंगे तो कौन आयेगा? आपसे ऐसी अपेक्षा नही थी। भूल-सुधार होना चाहिए।'

एक सांस मे सब कह गये।

कवि जी ने उन्हें भरने में कोई कसर नही छोड़ी थी।

'नवीन जी, मैं कुछ कहूं?' स्वर मे भरसक विनय से मैंने कहा।

'कहिए।'

'पहले आप इन कवि जी से बाहर जाने के लिए कह दीजिए।'

नवीन जी के संकेत पर बड़े बेमन से कवि जी कमरे से चले गये।

मैंने दराज से आमंत्रित कवियों की सूची निकाली और उनके सामने रख दी।

'ये कवि आमंत्रित किये गये है। नाम पढ़ लीजिए। यदि आप अपने मित्र को इनकी पंक्ति में रख सकते हैं—आप भी इनमे हैं—तो अपने हाथ से इनका नाम जोड़ दीजिए। मुझे स्वीकार्य होगा। मैं अभी, यहीं, हाथों-हाथ इन्हें पत्र दे दूंगा।'

उन्होने लेखनी उठायी और सूची पढ़ने लगे।

आद्योपांत पढ़ गये।

अनायास मुंह से निकला :

'यह कैसे हो सकता है? नहीं, नहीं, इनमें यह नही आते हैं। अच्छा, मैं चलूंगा। बुरा न मानियेगा। नमस्ते।'

उन कवि जी का फिर कभी मुझसे साक्षात नही हुआ।

अपनी पंक्ति मे एक नाम और जुड़ने के लिए शेक्सपियर को चार सौ साल प्रतीक्षा करनी है!

'बेचारा!'

मोहे विसरत नाहिं

ये चित्र मेरे मन में कहीं गहरे बस गये हैं। कभी विसरते नहीं। और विसरें भी क्यों? ये ऐसी अनुभूतियां जगाते हैं जो मेरी अपनी निजी संपदा हैं। न ये चित्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, न इनमें कोई क्रम है। इन्हें जो कड़ी जोड़ती है, सुरक्षित रखे हुए है, वह मैं हूं।

जिधर से मैं आ रहा था, उस ओर पीठ दिये वह रिक्शा के पास उकड़ूं बैठा था। मैंने उससे पूछा, 'रिक्शा खाली है?'

उसने मुड़कर मुझे देखा, उठा और बोला, 'खाली है। कहां चलना है?'

क़द-काठी देखकर लगा, इमारत कभी अज़ीम रही होगी, अब तो खंडहर थी। चेहरा झुर्रियों का खेत था, जिस पर भरपूर फ़सल थी। सिर और मूंछ पर कपास के गाले छाये हुए थे। बस, आवाज़ में कड़क थी।

ऐसा वृद्ध मेरा बोझ ढोये, इसके लिए मैं तैयार नहीं था। किंतु उससे कहता क्या? बहाना किया। थोथा था, किंतु और करता क्या?

'बहुत दूर नहीं जाना है, पैदल चला जाऊंगा।'

उसने बाल धूप में नहीं पकाये थे। ताड़ गया। बिगड़कर बोला:

'फिर पूछा क्यों था?'

'गलती हो गयी भाई!'

'ग़लती हो गयी! हूं! रोटी दिखाकर पूछते हो, खाओगे, और फिर हाथ खींच लेते हो। बाबू, यह खेल अच्छा नहीं है।'

'बुरा मान गये तो जहां तक मुझे जाना था वहां तक का भाड़ा ले लो।'

वह आग बबूला हो गया।

'बाबू जी, हमारी पगड़ी की भी इज्जत है। मेहनत करते हैं, पेट भरते हैं। दान पर नहीं पलते हैं। अपना रास्ता नापो।'

उसने गला खखारा और थूक दिया।

भीड़ चलती पटरी पर उसने अपनी औरत को ज़मीन पर लिटा रखा था। उसका सिर अपनी गोद मे लिये, वह अपने हाथ से कभी उसकी एक आंख, कभी दूसरी, बड़ी बेदर्दी से चीर रहा था और पुकारता जाता था :

'इस अभागी की आंखें जा रही हैं। इलाज के लिए धेला नही है। यह अंधी हो जायेगी। कुछ देते जाइये। हाथ न रोकिये। बड़े सवाब का काम है। अल्लाह, सूम पर लानत, सख़ी पर करम, अल्लाह।'

दस-बारह साल का एक लड़का था। शायद उनका बेटा होगा। एक पुराना, टूटा-फूटा टीन का बरतन सबके सामने फैला रहा था। लोग छोटे-बड़े सिक्के डालते जा रहे थे। मेरे सामने आया। मेरा हाथ जेब मे गया ही था कि मैंने सुना, वह औरत अपने आदमी को आहिस्ता से झिड़क रही थी :

'अरे ज़ालिम, आंखें ज़रा हल्के हाथ से चीर। सच ही मे अंधा कर देगा क्या...'

औरत ने देखा, मैंने सुन लिया है। वह चुप हो गयी। मेरा हाथ रुक गया। लड़का बरतन बढ़ाये खड़ा था। मैं वहां से चल दिया। उसने दो-चार क़दम पीछा किया, फिर लौट गया।

बाप से कह रहा था :

'स्साले ने दस पैसे भी नही दिये। सूम कहीं का !'

दिल्ली की जामा मसजिद की सीढ़ियों पर कभी किसी फ़क़ीर को गाते सुना था :

'रोटी तो किसी तौर
कमा खाये कलंदर।'

उसका नाम था होर्ज़े बोरोमियो। वह एक फ़िलिपीनी था। एशियाई ब्रॉडकास्टिंग परिषद् का आठवां वार्षिक समारोह हो रहा था। स्थल था, मनीला का इंटर-कौंटिनेंटल होटल। वह संपर्क-अधिकारी था।

बोरोमियो जवान तो नही था पर अभी अधेड़ भी नही हुआ था। स्वभाव से छैला और खिलदड़। पिछली रात के भोज पर, देर गये मस्ती से नाचता रहा था, चुहुल करता रहा था।

उस दिन अवकाश था। होटल के फोइयर मे वह मेरे पास बैठा था। मनीला मे अनेक दर्शनीय स्थल हैं। कुछ मैंने देख लिए थे, कुछ शेष थे। मैंने उससे कहा :

'सुना है, यहां की अमरीकी सेमिट्री (जहां दूसरे महायुद्ध में मरे अमरीकी सैनिक दफ़नाये गये हैं) बड़ा सुरम्य स्थान है। उसे देखना चाहता हूं। कुछ और प्रतिनिधि भी वहां जा रहे हैं।'

बोरोमियो को जैसे बिजली का नंगा तार छू गया हो। वह झनझना उठा :

'तुम वहां जाना चाहते हो? तुम हिंदुस्तानी, अमरीका को अपना मित्र समझते हो? अब मरे हुए अमरीकी सैनिकों की कब्र पर अपने टसुए बहाना चाहते हो? जाओ, ज़रूर जाओ। मैं तुम्हारे साथ नहीं आ रहा हूं।'

यह इतना अप्रत्याशित था कि मैं उसके आवेग को समझ नहीं पाया। मूर्खता से, मुंह में और पसीना लगा दिया।

'लेकिन मैंने तो लोगों को कहते सुना है कि अमरीकी फ़िलिपीनो के मित्र हैं, संरक्षक हैं। अमरीकियों ने ही इस देश को जापानियों से मुक्ति दिलायी थी। यहां अपार धन लगाया है। मारकोस (फ़िलिपीन्स के राष्ट्रपति) उनके साथ हैं।'

'काश, तब मैं इतना बड़ा होता कि मैं हाथ में बंदूक थाम सकता!'

बहस आगे बढ़ाना निरर्थक था। मैं चुप हो गया। वह भी कुछ देर बाद उठकर कहीं चला गया। मैं अन्य प्रतिनिधियों के साथ अमरीकी सेमिट्री देखने चला गया। वास्तव में अत्यंत सुरम्य स्थान था।

लौटने पर वह फिर मिल गया। कड़वाहट से पूछा, 'देख आये?'

मैंने केवल 'हां' कहा।

वह रुका। उसके भीतर का उफान चेहरे पर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह क्या कहने जा रहा है।

'इंग्लैंड गये हो?'

'हां, एक बार।'

'मेरी एक सलाह है।'

'क्या?'

'आगे कभी इंग्लैंड जाना हो तो उस अंग्रेज जनरल, जिसने किसी बंद बाग में तुम्हारे सैंकड़ों निहत्थे देशवासियों को गोली से भून दिया था, उसकी समाधि देखने अवश्य जाना!! भूलना नहीं।'

बोरोमियो ने मुझे सूली पर टांग दिया था।

अब वह मेरा मित्र है। उस दिन से पहले मैंने उसे कभी नहीं देखा था। नाम तक नहीं सुना था। बाद में वह दिल्ली के गांधी-संग्रहालय का निदेशक बन गया। बड़ा आत्म-सम्मानी था। अपनी ढफली पर किसी दूसरे का राग बजाने को तैयार नहीं था। पद त्याग दिया। कुछ दिन भटकता रहा। फिर देश छोड़कर चला गया। एक बार लौटा पर अधिक नहीं टिका। आज कहां है, मैं नहीं जानता। बरसों से

संपर्क टूट गया है।

उसका नाम है एस० के० डे।

गांधी जन्म-शती कैसे मनायी जाये, किन रचनात्मक कार्यों को प्राथमिकता दी जाये, इस पर विचार करने के लिए सेवाग्राम मे एक सम्मेलन आयोजित किया गया। गांधी जी के भक्त, पंडे, पुरोहित बड़ी संख्या मे एकत्र हुए। आकाशवाणी की ओर से मैं भी वहां गया हुआ था। सबने बड़ी-बड़ी बातें की—कुछ ठोस, कुछ मात्र नारे। जैसे, शती के दौरान देश के कितने लाख गावो मे पीने के पानी की व्यवस्था की जाये। (आज कोई नही पूछता, कितनी की गयी!) जो जितनी बड़ी बात कहता, उसके चेहरे पर उतनी ही सतुष्टि होती। सुननेवाले गद्गद हो जाते।

डे बोलने खड़ा हुआ। कुछ विशिष्ट नहीं था। एक साधारण व्यक्ति। मझोला क़द। सावला रग। दाढ़ी-मूंछ मंडित मुखड़ा। खादी का कुर्ता-पायजामा पहने। उस महती सभा मे एक नगण्य इकाई।

कुछ देर उसकी अनसुनी हुई। जब उसके शब्दो मे गरमी आने लगी तो लोगों को तपन अनुभव हुई। वे उसे एकाग्र हो सुनने लगे।

'आपके पास लाखो गावो मे पानी पहुचाने की क्षमता है? साधन-सुविधाएं हैं? उपकरण हैं? सरकार का समर्थन है? या थोथी अव्यावहारिकता है? बात उतनी करनी चाहिए जितनी बन सके। विश्वास तभी जमता है।'

वहां बैठे कुछ बडे, बुढाये मुड्ढों मे उसके प्रति रोष भर गया। उसे किस-किस उपाधि से विभूषित नही किया गया? अगभीर, उच्छृंखल, उद्धत, अभद्र।

वह इस सबसे अछूता रहा। शाम को अपने एक साथी के साथ शतरज खेलता रहा।

मैं अनिश्चय की स्थिति में था—उसे क्या समझू?

अगले दिन तड़के ही मुझे लौटना था। तारों की छाव मे उठा। सोचा, आने से पहले बापू की कुटिया मे ढोक दे आऊं। दरवाजा खोला। कुटिया मे झुटपटा था। कुछ स्पष्ट सूझ नही रहा था। धरती पर बैठी एक छाया का आभास हुआ। जब आंखें झुटपुटे की अभ्यस्त हुई तो देखा, कमरे के जिस कोने मे गांधी जी का गद्दा लगा था, लिखने की चौकी लगी थी, उस ओर मुख किये, ध्यानावस्थित, डे बैठा था। उसकी आंखें बद थी, हाथ जुड़े हुए थे।

उपासक अपने उपास्य से तादात्म्य स्थापित किये अपने प्रतिवेश से पूर्णरूप से अनभिज्ञ था।

मेरे पिता अस्पताल में भरती थे। कैंसर से पीड़ित। मैंने उन्हें सदा एक सौम्य संत के रूप में देखा था। वही रूप बना हुआ था। पीड़ा का विष वह पी गये थे और सहज थे।

साल-भर पहले उन्हें ऑपरेशन के लिए कहा गया था। वह राजी थे। ऑपरेशन की पूर्वसंध्या को डॉक्टर देखने आया। उनके चेहरे पर चिंता की कोई रेखा नहीं थी। उसने पूछा :

'जज साहब, आपकी आयु इतनी हो गयी है, (तब वह 82 वर्ष के थे), आपको ऑपरेशन से कोई भय या आशंका तो नहीं है?'

अपने जमाने में वह क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी थे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अपने कॉलेज, पेमब्रोक, की टीम के कप्तान थे। उसी खेल के मुहावरे में उत्तर दिया :

'मैं अपनी पारी खेल चुका। जमकर खेली और खूब खेली। मुझे कोई रंज नहीं है। अंत में तो सभी को पविलियन लौटना होता है।'

किसी कारण से वह ऑपरेशन टल गया। वह घर लौट आये। मालिक का नाम लेते और मगन रहते।

अब कैंसर की जकड़ में थे।

मैं उन्हें पोथी से पाठ सुना रहा था। वह शांत मुद्रा में सीधे लेटे हुए थे। शब्द सुन रहे थे, और न भी सुन रहे थे। कभी धीमे से उनके मुंह से निकलता, 'मालिक, मालिक मेहर।' आंख खोलते, मुझे देखते, मुसकराने की चेष्टा करते, मानो मुझे आश्वस्त करना चाहते हों।

आंखें बंद हो गयीं, श्वास अवरुद्ध होने लगा। वह अनंत निद्रा में जा रहे थे। चेहरे पर कोई विकृति नहीं थी। सौम्यता बनी हुई थी।

मैंने स्वजनों से कहा, 'बाबू जी जा रहे हैं।'

वे दौड़कर डॉक्टर बुला लाये। डॉक्टर कृत्रिम प्रक्रिया से उन्हें होश में लाने की चेष्टा करने लगे। मैंने रोका। अनुनय की। मालिक के चरणों में उनकी लौ लगी है। उन्हें शांति से जाने दें।

स्वजन माने न डॉक्टर।

पिता जी ने आंखें खोलीं। अपने को डॉक्टरों से घिरा पाकर आंखें भयमारी होकर फटी रह गयीं। चेहरा विकृत हो गया।

सौम्य चंद्रमा को राहू ने ग्रस लिया था।

उन्होंने सांस तोड़ दी।

आज जब भी मैं उनका स्मरण करता हूं, उस ग्रहण लगे रूप को भूल नहीं पाता हूं।

मैं पांच साल का रहा हूंगा। एक दिन सवेरे हम बच्चों को घर से बाहर भेज दिया गया, किसी रिश्तेदार के। दोपहर को बुलाये गये। घर ऊंची चौकी पर बना था। सामने चबूतरा था। वहां भीड़ जमा थी। सब गुमसुम थे।

हमें भीतर नहीं जाने दिया गया। अहाते में अस्तबल के पास साईस की कोठरी में बैठा दिया गया। पैंसठ बरस होने आये, मुझे उस साईस का नाम आज भी याद है, बंसी। बड़ा टर्रा था। जो उस दिन घटा था, हम उससे अनभिज्ञ थे। अपने खेल में मस्त थे। सच था :

'हम तो यह भी नहीं जानते थे
कि हमें रोना चाहिए।'

इतने में कोई आया। हमें कोठरी से बाहर ले जाकर उसने कहा, 'देखो, वह देखो।'

लाल साड़ी में लिपटी एक मुंहढकी काया को अपने कंधों पर लादे, मेरे पिता और उनके परिजन चबूतरे की सीढ़ियों से उतर रहे थे। तब मैं नहीं जानता था कि अर्थी किसे कहते हैं।

किसी ने आवाज लगायी, 'राम नाम सत्य है', शेष समूह ने जोड़ा, 'सत्य नाम सत्य है।'

भीड़ अहाते के बाहर निकल गयी। मैं उस अजूबे को देखता रहा।

मैं नहीं जानता था कि वह मेरी मां थी!

एक यशोदा थीं, एक कौशल्या थी। एक ने—'उर हरि अंक लगायो', दूसरी ने—'लै उछंग कबहुंक दुलरायौ।' मेरे लिए ये अनुभूतियां अजानी हैं। मैं तो यह भी नहीं जानता कि वात्सल्य का सागर अपने भीतर समेटे मां, अपने जाये को, 'बेटा' कैसे कहती है। मेरी मां का कोई चित्र नहीं है। मैं तीस बरस का था जब मैंने उसका नाम जाना। मैं उस नाम के साथ आज तक चेहरा नहीं जोड़ पाया हूं। कभी किसी ने यह भी नहीं कहा कि अमुक औरत तुम्हारी मां जैसी लगती है। असल न सही, मैं नक़ल के सम्मुख श्रद्धानत हो जाता।

मां के नाम पर मेरे पास एक ही चित्र है :

लाल साड़ी में लिपटी मुंहढकी एक काया जिसे अर्थी पर लादे मेरे पिता कंधा दे रहे थे।

नैनं दहति पावकः

[मार्च, 1955 में मेरी तीसरी बेटी मधूलिका को मालिक ने अपने चरणों मे ले लिया। तब उसकी आयु साढ़े नौ वर्ष थी। उसने एक लंबी बीमारी भोगी थी।

नवंबर, 1955 मे मैं अमरीका जा रहा था। प्रस्थान से कुछ दिन पहले, यह पत्र मैंने अपने एक मित्र को लिखा था। उनका कहना है, पत्र उन्हें नही मिला। इसलिए मैंने उनका नाम नही दिया है।]

इलाहाबाद
18-11-1955

प्रिय मित्र,

तुम्हारे दोनों पत्र यथासमय मिल गये थे। लिखने का साहस नही होता। सच मानो, तुम्हें लिखना मेरे लिए असंभव-सा हो गया है। तुम्हारा ध्यान आते ही, कानों मे शब्द गूंजते हैं···

'पापा जी,—साहब।'

'मधु, एक बाजी हो जाये।'

'—साहब हार गये, दस, बीस पच्चीस और तीन···अट्ठाईस।'

'ओ हो हो···'

और सारा घर हंसी से भर जाता है।

दृश्य, आंखो के सामने, एक-एक करके, चलचित्र की भांति घूम जाते हैं।

14 मार्च, 1955, सोमवार। ज्वर ताप 106।

'—साहब, ककड़ी को अंग्रेजी मे क्या कहते हैं?'

—साहब सोच रहे हैं।

'आपको नहीं मालूम, सच ? पापा, आप जानते हैं ?'
'हां, बेटी ।'
'बताइए, क्या कहते हैं ?'
'क्यूकंबर ।'
'क्यूकंबर । सुना—साहब आपने । ककड़ी को अंग्रेज़ी में क्यूकंबर कहते हैं ।'

15 मार्च, 1955, मंगलवार । ज्वर ताप 106 ।
'पापा जी, पंडित नेहरू को चीनी भाषा आती है ?'
'नहीं बेटा ।'
'और न चीनियों को हिंदी या अंग्रेज़ी आती है ?'
'नहीं आती है बेटा ।'
'फिर वह उनसे किस भाषा में बोलते होंगे ?'
'दुभाषियों की मदद से बोलते हैं बेटा ।'
'अच्छा !'

शाम । पांच के बाद । ज्वर ताप वही । सरसाम । ममी उसके बाल ठीक कर रही हैं । 'बहन जी, तू क्या कर रही है ? बहन जी, बहन जी ।' ममी की आंखें भरी हुईं, कंठ अवरुद्ध और होठों पर कातर पुकार—'हे भगवान, क्या हो रहा है ?' मन आश्वस्त करने के लिए उससे पूछती हैं :

'बेटी, तेरे खिलौने कहां हैं ?'
'वहीं रहे, अलमारी में ।'
'क्या-क्या हैं ?'
'भालू है, रबर का । बिल्ली है, मिट्टी की । टैडी बियर है···'
सब ठीक । आशा बंधती है । और फिर—
अगले सवेरे साढ़े चार बजे, सिविल अस्पताल ।
निरंतर कराहट और बेहोशी । उंह, उंह, उंह, उंह !
8-35 । शांति, चिर शांति···ओम् शांति· शांतिः शांतिः ।
गंगा तट, आग की लपटें और वह कोमल शरीर । डस्ट दाउ आर्ट टू डस्ट रिटर्नेथ ।

शायद तुमने ग़ौर किया होगा । उसके अंग का एक भाग था जो क्षार नहीं होता था । लकड़ी से, बार-बार, जहां आग की तेज़ी थी, उसको रख दिया जाता था । जानते हो, वह काहे का प्रतीक था ? जीने की उस प्रबल इच्छा का जिसके बल पर उसने वह घातक बीमारी हंस-खेलकर झेली थी और कभी, एक बार भी, एक

क्षण के लिए भी, यह नहीं सोचा था कि अनिष्ट हो सकता है।

16 सितंबर को सवेरे मैं गंगा-किनारे वही स्थल ढूंढने गया जहां छः महीने पहले हमने उसकी अंत्येष्ठि की थी। बरसात के पानी से बिफरती हुई गंगा ने उसे अपने अंक में ढक लिया था। इधर-उधर भटककर घर लौट आया। भाभी ने पूछा, 'आज घूमने में बड़ी देर हो गयी। कहां गये थे?' मैं क्या कहता? इलाहाबाद से प्रस्थान करने से पहले एक बार फिर जाकर उस चमत्कारी बालिका का स्मरण कर, वहां अपने स्नेह के पुष्प भेंट कर आऊंगा।

मधु के बारे में मैं कितना कहना चाहता हूं, कितना मुझे कहने को है? मैं अपना शेष जीवन मधुस्मृतिमय कर देना चाहता हूं। मेरे हृदय का एक टुकड़ा है जो जल गया है, जो राख हो गया है। दुनिया मुझे बधाई देती है, संयुक्त राष्ट्र, न्यूयॉर्क में नियुक्ति के लिए, मैं आत्म-ग्लानि से घुला जाता हूं। उसके कपड़े, उसके खिलौने, उसकी पुस्तकें, कॉपियां, कटिंग्स, उसके बिस्तरे, अभी तक ज्यों-के-त्यों रखे हैं। उनको हटाकर सुरक्षित रखने का साहस अभी तक नहीं बटोर पाया हूं। आख़िर करना ही है।

पड़ोस की एक लड़की है। आयु 4-5 वर्ष। बहुत ही वाचाल। मधु उसे बहुत प्यार करती थी। घरवाले आने नहीं देते थे। कुछ दिन हुए, लुक-छुपकर आ गयी। उसके बिस्तरों के पास खड़ी होकर एकटक खिलौने देखने लगी। मैं उधर से निकला।

'वह कहां गयी?'

'......'

'मम्मी कहती है, डॉक्टर के घर गयी है। जब ठीक हो जायेगी तब आयेगी।'

'......'

'कब ठीक होगी?'

'......'

'कब आयेगी?'

'......'

'बताइये।'

'......'

'हम उस खिलौने से खेल लें?'

'आओ, तुम्हें घर छोड़ आयें। मां बरजेगी।'

15 मार्च, 1955।

बेहोशी में बोली, 'कुछ नहीं खायेंगे। भूख नहीं है। अच्छा, पपीते का एक

टुकड़ा खा लेंगे। ममी, ले आओ।' दस्त थे, डॉक्टर ने पपीता मना कर दिया था। कुछ देर बाद। 'ले आयी। कहां रखा है?' आंखें बंद थीं, हाथ से टटोलने लगी। जैसे पपीते का एक टुकड़ा उठाने की कोशिश कर रही हो। फिर ध्यान कहीं और चला गया।

अब जब मैं पपीता खाने से इनकार करता हूं तो पिता जी बार-बार पूछते हैं। उन्हें क्या बताऊं?

उसी दिन कहने लगी:

'ममी, धरती साफ़ कर लो। बड़ी गंदी हो रही है। जल्दी करो।'

उसके मुंह से होनी बोल रही थी।

रात को सोती तो गुड़ियों को अपनी जर्सी उढ़ाती। सवेरे उठती तो पहले उन्हें जगाती। दिन भर पढ़ती रहती और हंसती रहती। उसकी दुनिया मे रोना नहीं था। वह बीमारी मे एक बार नही रोयी। जिस दिन गयी, उस रात मैंने सपने में देखा, 'धर्मयुग' की एक ढेरी रखी है। हवा का तेज झोंका आता है। एक-एक करके पत्रिका की सब प्रतियां उड़ जाती हैं। मेरी आंख खुल जाती है।

16 नवंबर को, देहत्याग के ठीक आठ महीने बाद, मैंने उसे सपने में मेरे गलबहियां डाल रोते देखा। भूल गया, काहे के लिए रो रही थी। विचलित हूं। अभी परसों ही की बात है। भाभी कह रही थी, 'मेरी कोख कलंकित हो गयी।' अभी भी ऐसे देखती रहती है, जैसे लौट आयेगी। कैसे लौट आयेगी? कौन लौटा है?

कहां तक लिखूं, कहूं? कोई अंत नही है। न होगा। पीड़ा अकथ है।

तुम अच्छे होगे। के० आर० पांडेय को यह पत्र दिखा देना। तुम जितना ही वह मेरे निकट रहा है।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
—गोपालदास

